भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य विरचित

रयण सार

सम्पादक

डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री,
साहित्याचार्य, एम. ए., पी-एच. डी.;
प्राध्यापक, शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, नीमच

श्री वीर-निर्वाण-ग्रन्थ-प्रकाशन-समिति, इन्दौर,

वीर निर्वाण संवत् २५००

प्रकाशक
श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ-प्रकाशन-समिति,
४८. सीतलामाता बाजार,
इन्दौर ४५२-००२

चौदहवा पुष्प

प्रथम संस्करण
क्षमावणी, वी. नि. सं. २५००
मू[illegible] रुपये

RAYAN SARA : Kundkund
Editor: Dr. Devendra Kumar Shastri
Religion
Paryushan, 1974.

मुद्रक : नई दुनिया प्रेस, इन्दौर

प्रकाशकीय

श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ-प्रकाशन-समिति, इन्दौर को आचार्य कुन्दकुन्द की प्रस्तुत अद्वितीय कृति के प्रकाशन में अत्यधिक गौरव का अनुभव हुआ है। "समयसार" के उपरान्त "रयण-सार" उनकी एक ऐसी कृति है जो साधनारत श्रावक, अथवा मुनिके चारित्र को सम्यक् आयाम प्रदान करती है। सर्वविदित है कि सम्यक्ज्ञान का पात्र सम्यक् चारित्र ही हो सकता है, सदाचार में ही ज्ञानके कमल खिलते है। वस्तुत: यदि चारित्र अनुपस्थित है, तो ज्ञान सुप्त है; अपंग, महत्त्वहीन। असल मे धरती ही यथार्थ मे चारित्र है जहाँ ज्ञान का बीज अनुकूल आबोहवा मे अपने डैने पसारता है, अर्थात् सम्यक्चारित्र ज्ञानका मूलाधार है। मेधावी ग्रन्थकार ने इस तथ्य की छाया में बड़ी सहज, सरल, सुबोध भाषा में "रयणसार" की रचना की है। संपूर्ण ग्रन्थ सूक्त-रत्नों की अदृप्त दीप्ति में जगमगा रहा है, और देहरी पर रखे दीये की तरह पाठकके अंतरंग-बहिरंग को प्रकाशसे अभिषिक्त कर रहा है।

यथार्थ मे आचार्य कुन्कुन्द की प्रतिभा का कोई जवाब नहीं है। वह अनुपम है, अतुल है, और अचूक है। इस क्षेत्र मे अकेले वे सुमेरु की भाँति उत्तुंग-अविचल खड़े है। साफ-सुथरी निष्कपट भाषा, जीवन्त और प्रखर अनुभूति, प्रभावशाली प्रतिपादन और जीवन को उमग से ओतप्रोत करने वाले तत्त्वों की सम्यक् विवेचना, उनकी प्रमुख विशेषताएं हैं। कुन्दकुन्द दक्षिण के हैं, उनमें ज्ञान का अपरंपार दाक्षिण्य है, सच पूछिये तो उत्तर के पास 'रयण-सार' का कोई उत्तर नहीं है। "मार"—कृतिकार महामुनि कुन्दकुन्द की प्रस्तुत कृति ने पूज्य मुनिश्री विद्यानन्दजी का ध्यान आकर्षित किया और उन्होंने अपनी इन्दौर-चातुर्मास-अवधि मे नीमच के शासकीय महाविद्यालय के हिन्दी-विभाग मे सेवारत विद्वान् प्राध्यापक और जैनदर्शन के मर्मज्ञ पंडित डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री को इसके व्यवस्थित संपादन का दायित्व सौंपा। डॉक्टर साहब ने पूज्य मुनिश्री की आज्ञा को शब्दश: शिरोधार्य किया और इसके संपादन में अपने समग्र मन:प्राण उंडेल दिये। उन्होंने जी-तोड़ मेहनत की और इसके संपादन में अपनी ओर से कहीं कोई कमी नहीं रहने दी। विद्वान् संपादक ने एक शोधपूर्ण भूमिका लिखकर आचार्य कुन्दकुन्द के महान् व्यक्तित्व पर भी व्यापक और अधिकृत प्रकाश डाला है तथा "रयण-सार" की प्रामाणिकता के तथ्य की भी परीक्षा की है। इस तरह शास्त्रीजी का परिश्रम स्तुत्य है, और उनके इस कृतित्व के लिए समाज को उनकी चिरकृतज्ञता स्वीकार करनी चाहिये। स्मरणीय है कि श्री वीरनिर्वाण ग्रन्थ-प्रकाशन समिति इस संदर्भ मे उनका सार्वजनिक सम्मान कर चुकी है।

परम पूज्य मुनिश्री विद्यानन्दजी तो ज्ञान के महातीर्थ हैं, श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ-प्रकाशनसमिति का अस्तित्व ही उनका दिया है; प्रस्तुत प्रकाशन भी उन्ही की प्रेरणा का अमृत फल है। हमे विश्वास है "रयण-सार" व्यापक रूप मे पढ़ा जाएगा और आम पाठक उसकी महत्ता को समझेगा। कागज़ और मुद्रण की जानलेवा मंहगाई में भी समिति ने उम्दा कागज़ पर बहुविध सुविधाजनक टाइपों मे इसे प्रकाशित करने का विनम्र प्रयास किया है। हमें आशा है स्वाध्यायानुरागी श्रावकों को "रयण-मार" आद्यन्त पसन्द आयेगा।

कला की दृष्टि से भी 'रयण-सार' के प्रकाशन की अपनी कुछ मौलिकताएँ है। मूलगाथाओं की आजू-बाजू जो मानस्तम्भ मुद्रित है, वह श्रवणबेलगोला के भट्टारक श्री चारुकीर्ति स्वामीजी के सौजन्य से प्राप्त 'रयण-मार' की ताड़पत्रीय प्रति पर अंकित चित्र की ही अनुकृति है। आवरण का संयोजन भी मान्य स्वामीजी द्वारा उपलब्ध चन्द्रगिरि के शिलालेख से किया गया है। इसमें कुन्दकुन्दाचार्य की प्रशस्ति कन्नड़ लिपि में उत्कीर्ण है। इस महती कृपा के लिए हम पूज्य स्वामीजी के अत्यन्त कृतज्ञ हैं। ग्रन्थ के निर्दोष मुद्रण और उसकी कलात्मक प्रस्तुति में तीर्थंकर मासिक के सम्पादक डॉ नेमीचदजी जैन, नई दुनिया प्रेस के व्यवस्थापक श्री हीरालाल झाझरी, समिति के कोषाध्यक्ष भाई श्री माणकचन्दजी पांड्या तथा स्वयं सम्पादक ने जो परिश्रम किया है, उसे भुलाया नहीं जा सकता। अन्त में हम अपने इस संकल्प को दोहराना चाहेंगे कि पूज्य मुनिश्री के शुभाशीषों की सघन छाया ने जैन-वाङमय की प्रभावना में जो भी उत्तमोत्तम कर सकेंगे, करेगे।

क्षमावणी
वीर निर्वाण सवत् 2500

—बाबूलाल पाटोदी

परम धर्म-प्रभावक पूज्य मुनिश्री
विद्यानन्दजी महाराज के
अध्ययन-ध्यान में निरत
मेधावी एवं तेजस्वी
व्यक्तित्व को
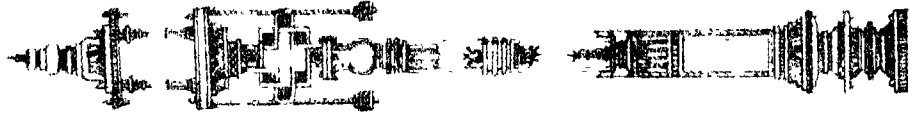
पुरोवचन

जैनधर्म ने आचार और विचार के क्षेत्र में क्रान्तिकारी उपलब्धियाँ दी हैं। जैनों ने ही अहिंसा को सम्यक्चारित्र के राजमार्ग पर प्रचारित कर शान्ति, सद्भावना, मैत्री और व्यापक उदार वृत्ति की सम्भावनाओं को व्यावहारिक अवसर प्रदान किया है। "जिओ और जीने दो" अहिंसा-दर्शन रूपी क्षीर-सिन्धु से निकला हुआ महामूल्य मणि है, जो पशुबल के प्रतीक मत्स्यन्याय के विरोध में मानवता की विजय का सिंहनाद अथवा दुंदुभि-घोष है। विचार के क्षेत्र में अनेकान्त-धारा को प्रसारित कर जैन दर्शन ने सदियों में एकान्त मस्तिष्क की चिन्तन-ग्रन्थियों को उद्वेलित कर दिया है। तन और मन की बाह्या-भ्यन्तर सकल ग्रन्थियों को खोलकर दिगम्बर हुए मुनियों ने चारित्र की चारुशाला में जिस वीतराग पाठ को पढ़ा है, उसकी निःसंदिग्ध प्रामाणिकता ने महाव्रतों की छाया में समाज को पंचशील (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) का अमृतफल प्रदान कर उसे अमर कर दिया है। प्रस्तुत 'रयणसार' ग्रंथ में उसी आचार और विचार पर श्रमण एवं श्रावक की शिक्षा के हेतु आचार्य कुन्दकुन्द ने तीर्थंकर महावीर की वाणी को गुरु-परम्परा से प्राप्त कर आर्ष विषय को गूँथा है।

वर्तमान समय में कई ओर से शिथिलाचार की आवाज उठ रही है। धर्म शिथिलाचार से नहीं चलता। एरण्डवृक्ष की दुर्बल लकड़ी महाप्रासादों के लिए स्थूणा नहीं बन सकती। "चारित्त खलु धम्मो"——धर्म का स्वरूप तो चारित्र ही है। यदि वह विचार मात्र बन जाएगा तो धर्म की साक्षात् स्थिति का लोप हो जाएगा। तीर्थंकर महावीर का वीतराग धर्म तो चारित्र में ही स्थित है। मणि को लाक्षा में आरोपित नहीं किया जाता और चारित्र रूप महामणि को शिथिलाचार रूप चाण्डाल के हाथों में नहीं दिया जा सकता। प्राचीनता का आदर्श सदैव रक्षणीय है। वह आदर्श ही तो हमें विगत सहस्र पीढ़ियों में मनु, पुरु आदि प्रवरवंश जगत-प्रदीपकों का दायाद बनाता है तथा उत्तराधिकार सौंपता है। आधुनिकता जहाँ तक प्राचीनता को सम्मान के साथ उच्चासन प्रदान करती है, वहाँ तक उसे साथ लेकर मूल सिद्धान्तों की यथावत् रक्षा करते हुए मोक्षमार्ग पर चलते रहना सनातन श्रमण-संस्कृति को अभीष्ट है। सुधारवाद के नाम पर शास्त्रों की

स्वानुकूल व्याख्या करना, परम्परा से प्राप्त आचार-विचार को क्रान्ति के नाम से उत्क्रान्त करना निन्द्य है। इस विषय में मुनि हो अथवा श्रावक, उन्हें आगम-निरूपित मार्ग का आश्रय कभी नहीं छोड़ना चाहिए; क्योंकि "मार्गस्थो नावसीदति" जो मार्ग पर चलता है, वह कभी दुःखी नहीं होता। धर्म-संस्थान के आचार्य मुनियों को पक्ष-विपक्ष का परित्याग कर श्रावकों के लिए उसी शास्त्रदृष्ट-मार्ग का निरूपण करना उचित है। मैं तो अधिक-से-अधिक निम्नलिखित अमृतमय गाथा से अपनी जीवनचर्या में बड़ी सहायता पाता हूँ, जिसमें अपवर्ग से पूर्व अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगियों के लिए उल्लेख करते हुए लिखा गया है--

अज्झयणमेव झाणं, पंचेंदियणिग्गहं कसायं पि ।
तत्तो पंचमयाले पवयणसारब्भासमेव कुज्जाओ ॥

--आचार्य कुन्दकुन्द : रयणसार, ८२

तीर्थंकर महावीर की दिव्यध्वनि से प्रसूत आगम साहित्य का अध्ययन (मनन,-चिन्तन, स्वाध्याय) ही ध्यान (आत्मस्थितिवेला) है। उसी से पंचेन्द्रियों का अयत्न-सहज ही निग्रह होता है तथा कषायों का क्षय भी। अतएव (एकादश महाप्रयोजन की सिद्धि के लिए) इस पंचम-दुःखम कलिकाल में प्रवचनसार (जिनवाणी रूपसार--आगम सुभाषित) का अभ्यास करते रहना ही श्रेयस्कर है।

मुनिलिंग आचार पालन में परम सहायक है, क्योंकि निर्ग्रन्थ होने पर किसी प्रकार का परिग्रह नहीं रखने से धर्मध्यान में स्वाभाविक सौकर्य आ जाता है। यदि नहीं आ पाता हो तो मुनिलिंग का वैशिष्ट्य अकिंचन हो जाएगा। तब इसकी गुरुता लघुता रूप में आ जाएगी और 'वर्णवर्तिका संसार' वीतराग मुनियों का इतिहास लिखते समय 'अमृतप्रक्षालित इन्दु' में लांछन देखकर लिखेगा। इस प्रकार का अवसर न आने देने के लिए शिथिलाचार का उन्मूलन किया जाना अनिवार्य है। नीति कहती है "वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां। गृहेऽपि पंचेन्द्रिय-निग्रहस्तपः"--यदि इस सूक्ति का लक्ष्य निर्ग्रंथ मुनियों में घटित होने लगे तो यह पंचमकाल की महातपा कालजयी पाणिपात्र मुनियों पर साहसिक विजय होगी; परन्तु विश्वास है कि ऐसा कभी नहीं होगा। तीर्थंकर महावीर की आप्तवाणी और सम्यक् चारित्र का संबल साथ रहते वीतराग निर्ग्रंथ सदा ही निर्लाञ्छन रहेंगे। किन्तु इसके लिए थोड़ा श्रम त्यागियों और रागियों को भी करना होगा। त्यागी परिग्रहोन्मुख न हों और रागी श्रावक अपने को संयत करें। वे धर्म को श्वासोच्छ्वास क्रिया के समान जीवन का अनिवार्य अंग बनायें। उनका रोम-रोम

धर्मसम्मत होना चाहिये। तीर्थंकर की पूजा-प्रक्षाल, मन्दिर में जाकर देवदर्शन का नियम, दान-पुण्य, अतिथि-देव-गुरूपास्ति, इत्यादि धार्मिक क्रियाकलापों को निपटाने के बाद भी रात-दिन चौबीसों घण्टे उनकी गूंज प्राणों को सुनायी देती रहनी चाहिए। जो धर्म को अपने रक्त-मज्जा में, अपने श्वास में, स्वात्मचिन्तन में, क्रियाओं मे एकाकार नहीं कर लेता, उसका सम्यग्दृष्टि होने का दम्भ केवल अभिमान कहा जाना चाहिए। जैसे पुष्प के साथ उसका सुगन्ध रूप* तथा कोमलता सभी एकनिष्ठ रहते हैं, जैसे गन्ने की मिठास उसके आकार में अभिन्न होकर समायी हुई रहती है, उसी प्रकार धर्म और धर्मी अविनाभाव सम्बन्ध से रहे, यही धार्मिक और धर्मात्मा का उत्तम लक्षण है। इसी प्रकार त्यागी विशुद्ध त्यागी ही रहें और समाज के मार्गदर्शन तथा आत्मकल्याण-साधना मे निमग्न रहें, आचार-शैथिल्य शब्द भी उनके समीप से नहीं निकलना चाहिए, तभी जिनवाणी में प्रोक्त अहिंसाधर्म की सुवर्ण-कलश सर्वोपरिता इस काल में अक्षुण्ण रह सकेगी। जैसे कुलांगना सतीत्व की रक्षा करती है, उसी प्रकार मुनिराजों को अपने महाव्रतों की, मूलगुणों की रक्षा करनी चाहिए; क्योंकि कांच का भाण्ड और चारित्र का रत्नपात्र थोड़ी-सी ठेस लगने से टूट जाते हैं, फिर उसे जोड़ना असम्भव है। नीतिवाक्य है—"न सदश्वा: कशाघात न सिंहा घनगर्जितम् । परैरंगुलिनिर्दिष्टं न सहन्ते मनस्विन:"—जो प्रशस्तमना होते हैं, वे लोकापवाद को सहन नहीं कर सकते। अग्नि निर्वाण को प्राप्त हो सकती है; किन्तु शीतल नहीं हो सकती। लोक अग्नि के उष्णत्व को ही पूजता है, शीतल राख को नहीं। अत: मनस्वी रहकर आचार को सर्वथा तत्स्वरूप दशा में ही पालन करते रहना उचित है, उसे तत्सम बनाकर नहीं।

इस प्रकार के विशुद्ध विचार आत्मध्यान से, स्वपर-विवेक से, वीत-मोहता से परिणत होते हैं, ध्यानयोग से उस आत्मतत्त्व को जानने का प्रयास करते रहने से ही मुक्ति मिल सकती है। उस आत्मा की विशुद्धि के लिए ही देवपूजा, व्रतपालन, गुणग्रहण का निर्देश किया जाता है। ये सभी साधन आत्मोपलब्धि के लिए हैं। उस आत्मा का कोई भौतिक चित्रांकन नहीं किया जा सकता, प्रस्तरशिल्प भी तैयार नहीं हो सकता। छैनी से टकोर कर उसकी मूर्ति नहीं बनायी जा सकती। उस स्व-सवेद्य को तो ध्यान से ही देखा जा सकता है, अनुभव किया जा सकता है। उस आत्मचिन्तन के लिए जो स्व-समयगंगा में अवगाहन करते हैं, उन्हें शिवत्व की प्राप्ति में विलम्ब नहीं होता। "रयणसार" इसी तथ्य की ओर अपने प्रमाणित शब्दों मे घोषणा करता है—

"दव्वगुणपज्जएहिं जाणइ परसमय ससमयादिविभेयं ।
अप्पाणं जाणइ सो सिवगइ पहणायगो होइ ॥" १४४ ॥

---

*—"जह फुल्लं गंधमयं भवदि।" —बोध पा ४/१४

जो आत्मा द्रव्य गुण–पर्यायों को तथा परसमय-स्वसमय आदि भेदों को जानता है और आत्मा को भी जानता है, वह शिवगति–पथ का नायक होता है –

आचार्योयत्तमराप्तरिं तिलिद तत्वज्ञानिगल कोंडकुं—
डाचार्य सकलानयोगं दोलगं तत्सारमंकोंडु पू—
र्वाचार्यावलियोजेयि समयसार ग्रंथमंमाडि वि—
द्याचातुर्यमनी जगक्के मेरेदर चारित्र चक्रेश्वरर् ।। —योगामृत, ३

आप्तस्वरूप, आचार्यों में उत्तम, महान् तत्त्वज्ञानी, चारित्रचक्रवर्ती, आचार्य श्री कुन्दकुन्द के सम्पूर्ण अनुयोगों के सार का मन्थन कर पूर्वाचार्य परम्परा मे प्राप्त आध्यात्मिक ज्ञान को "समयसार" प्राभृत की रचना के द्वारा अपनी स्वानुभव विद्याचातुरी के रूप मे इस जगत् में सुकीर्ति को प्राप्त हुए।

धर्मानुरागी डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री द्वारा रयणसार का विद्वत्तापूर्ण सम्पादन स्वाध्यायी एवं अध्ययनार्थी को गमक सिद्ध होगा और डॉक्टर साहब का परिश्रम सफल होगा, ऐसा हमारा पूर्ण विश्वास है।

—मुनिश्री विद्यानन्द

प्रस्तावना

परिचय

भारतीय तत्त्व-चिन्तन के इतिहास में आगम-परम्परा का संवहन करते हुए महान् तत्त्वान्वेषी, स्वानुभूति स्वसंवेद्य परमात्म-परमानन्द को प्राप्त, आचार्य-शिरोमणि, चारित्रचक्रवर्ती, आध्यात्मिक ज्ञान-गंगा प्रवाहित करने वाले भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य का व्यक्तित्व सूर्य और चन्द्र के समान स्वयं प्रकाशित है। उनके तत्त्वज्ञान मे जहाँ निर्मल ज्ञान की भास्वर दिनकर-कर-निकर की छटाएँ लक्षित होती हैं, वहीं अहिंसा, करुणा, समता और वैराग्य की शीतलता भी प्राप्त होती है। यह अद्भुत समन्वय हमे भारतीय चिन्तकों में केवल आचार्य कुन्दकुन्द मे ही परिलक्षित होता है। उन्होंने अपने युग की जनसामान्य बोली में परमतत्त्व का जो सार निबद्ध किया है, वह वास्तव में अनुपम है। भारतीय मनीषी उस परमतत्त्व को केवल स्वानुभूति से ही उपलब्ध कर सकता है। किन्तु उस अखण्ड, अतीन्द्रिय, स्वसंवेद्य और परब्रह्म स्वरूप परमात्व तत्त्व को उपलब्ध करने की विधि क्या है? आचार्य कुन्दकुन्द का चिन्तन स्पष्ट है कि आत्मज्ञान के बिना परमतत्त्व की उपलब्धि नहीं हो सकती। आत्मज्ञान स्वात्मानुभूति का विषय है। स्वात्मानुभूति को उपलब्ध करने के लिए सर्वप्रथम दृष्टि सम्यक् होनी चाहिए। सम्यक्दृष्टि बनने के लिए आचार-विचारों में निर्मलता और आत्मतत्त्व मे रुचि होना आवश्यक है। जब तक दृष्टि नहीं पलटती है, तब तक दुःख नही छूटता है। इस प्रकार जगत्, जीवन और आत्मा की संश्लेषात्मक तथा विश्लेषात्मक दशाओ का एक वैज्ञानिक रूप से वर्णन किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भाव की सत्ता को शाश्वत, अव्यय और अविनाशी बताया है। इसी प्रकार शब्द को पौद्गलिक, स्कन्धों को विभाज्य तथा पुद्गल के स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश और परमाणु आदि भेद अत्याधुनिक विज्ञान के क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक चिन्तन के निदर्शक हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द का जन्म दक्षिण भारत मे हुआ था। श्रवणबेल्गोल के शिलालेख में उनका नाम 'कौण्डकुन्द' मुनीश्वर कहा गया है। 'कोंड-कुंदपुर' के निवासी होने के कारण उन का नाम 'कुंदकुंद' प्रचलित हुआ, बताया जाता है। पुरातत्त्वीय प्रमाणों के आधार पर अब यह निश्चित हो चुका है कि आचार्य कुन्दकुन्द का जन्म-स्थान आधुनिक 'कोन्कोण्डल' ग्राम है, जो अनन्तपुर जिले में गुट्टी तालुक में गुन्टकल रेल्वे-स्टेशन से लगभग चार मील की दूरी पर स्थित है। 'कोण्ड' कन्नड़ भाषा का शब्द

है, जिसका अर्थ 'पहाड़ी' है। पर्वत पर या पहाडी स्थान के निकट बसा होने के कारण यह 'कोण्डकुंड' कहा जाता था। यह आज भी पर्वतमालाओं से सटा हुआ है। यद्यपि आज यह आन्ध्र प्रदेश में है, पर उस समय में यह कर्नाटक प्रदेश में था। शिलालेखों में स्पष्ट रूप से कई स्थानों पर इसका उल्लेख मिलता है।

यद्यपि आचार्य कुन्दकुन्द के मूल नाम का पता नही है, किन्तु सम्भवत: उनका मूल नाम पद्मनन्दि था। यह नाम मुनि अवस्था का था। उनके अन्य नाम व्यक्तित्व के परिचायक हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के वक्रग्रीव, महामति, ऐलाचार्य, गृद्धपृच्छ और पद्मनन्दी इन पाँच नामो का उल्लेख मिलता है। एक गुरु पट्टावली के अनुसार आचार्य कुन्दकुन्द का जन्म वि. संवत् ४९ में पौष कृष्ण अष्टमी को हुआ था। वे केवल ग्यारह वर्ष की अवस्था तक घर में रहे। उनके जन्म काल से ही माता अध्यात्मरस मे अवगाहन करने लगी थी और घंटों तक बालक को पालने मे झुलाती हुई "शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरंजनोऽसि. संसार-माया परिवर्जितोऽसि" की लोरियाँ गा-गा कर सुनाया करती थी। इसलिये छोटी अवस्था मे ही वे संसार से विरक्त हो अध्ययन-मनन मे लीन हो गए। युवा-काल मे तैंतीस वर्ष की अवथा मे उन्होने संन्यास ग्रहण किया था। वे इक्यावन वर्षो तक आचार्य पद को अलंकृत करते रहे। उनकी आयु ९५ वर्ष, १० मास और १५ दिन की कही गयी है।

समय तथा युग

शेषगिरि राव ने अपने लेख "द एज ऑव कुन्दकुन्द" मे विस्तारपूर्वक लिखते हुए कहा है कि मेरे पास तमिल साहित्य मे और लोकबोली में इस बात के अनेक प्रमाण हैं कि जिस प्रकार की प्राकृत मे आचार्य-कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थ निबद्ध किए है, वह केवल समझी ही नही जाती थी; वरन् आन्ध्र और कलिग प्रदेशों मे जन सामान्य के द्वारा व्यवहृत थी। इस युग की उपलब्ध रामतीर्थम् की मिट्टी की सीलें और अमरावती के शिलालेख इस प्राकृत बोली से साम्य रखते है। अतएव मेरी समझ मे यह युग ईसा की प्रारम्भिक प्रथम या द्वितीय शताब्दी होना चाहिए (द्रष्टव्य है जैन गजट, १८ अप्रेल, १९२२, पृ. ९१)। भाषा की दृष्टि से विचार करने पर यह कथन पूर्णत. सत्य प्रतीत होता है। क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओ मे प्रयुक्त प्राकृत प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओं की अन्त.स्वरीय ध्वनिग्रामिक सरंचना के अधिक निकट है। शक संवत् ३८८ मे उत्कीर्ण मर्करा के ताम्रपत्रों में कोण्डकुन्दान्वय की परम्परा के छह प्राचीन आचार्यों का उल्लेख मिलता है। डॉ. ए. चक्रवर्ती ने 'पचास्तिकाय' की प्रस्तावना मे और डॉ ए. एन. उपाध्ये ने 'प्रवचनसार' के परिचय मे आचार्य कुन्दकुन्द का समय ईसा की प्रथम शताब्दी माना है। मूल में 'कोण्डकुंद' कन्नड़ शब्द है, जो 'पर्वत अर्थ' का वाचक है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस कन्नड़ शब्द का इतिहास तथा दक्षिण भारत में उपलब्ध प्राचीनतम सांस्कृतिक सामग्री ईसा से कई शताब्दी पूर्व जैन धर्म का अस्तित्व सिद्ध करती है। श्री पी बी देसाई प्रबल प्रमाणों के साथ आचार्य कुन्दकुन्द को ईसा की प्रथम शताब्दी में उत्पन्न मानते हैं। उनके समर्थन में एक अन्य प्रमाण भी उपलब्ध होता है कि तिरुवल्लुवर तथाकथित 'तिरुक्कुरल' के रचनाकार और आचार्य कुन्दकुन्द एक ही थे। तिरुवल्लुवर का रचना-काल ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग माना

जाता है। 'तिरुवल्लुवर' में 'तिरु' आदरसूचक उपसर्ग है। उनका वास्तविक नाम अज्ञात है। उनकी प्रसिद्ध रचना 'तिरुक्कुरल' या 'थिरुकुरल' मानी जाती है। प्रो. ए. चक्रवर्ती के अनुसार निश्चित ही यह तिरुक्कुरल एलाचार्य अर्थात् आचार्य कुन्दकुन्द की अमर रचना है। इसका सब से बडा प्रमाण यही है कि इस रचना में प्रयुक्त अपरिग्रह, मूढ़ता, अरम-अमण (श्रमण) तथा थेर आदि जैनों के पारिभाषिक शब्द हैं। इस कृति का रचनाकाल ईसा की प्रथम और द्वितीय शताब्दी अथवा इससे पूर्व मानने वालों में श्री के. एन. शिवराज पिल्लै, श्री टी. एम. कन्दसामी मुदलियार, श्री वी. आर. रामचन्द्र दीक्षितार, श्री पूर्ण सोमासुन्दरम्, मु. गो. वेन्कट कृष्णन, डॉ. ओमप्रकाश, श्री टी पी मीनाक्षीसुन्दरम्, श्री अवधनन्दन, जी एस. दुरैस्वामी, इत्यादि अनेक विद्वान् हैं।

(डॉ. रवीन्द्रकुमार सेठ . तिरुवल्लवर एवं कबीर का तुलनात्मक अध्ययन, पृ ६)

यह भी द्रष्टव्य है कि तमिल का प्राचीनतम साहित्य जैन साहित्य है। पं के. भुजबली शास्त्री के अनुसार तमिल संघकाल की रचनाओ मे तिरुक्कुरल ही अन्तिम रचना है। तमिल भाषा के आदि कवि जैन ही है।

आचार्य कुन्दकुन्द निश्चित रूप से ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग हुए थे। इसका सब से प्रबल प्रमाण "प्रवचनसार" की वह गाथा है, जो प्रथम शती के प्राकृत के महाकवि विमलसूरि के 'पउमचरिय' में उपलब्ध होती है। 'प्रवचनसार' की यह गाथा है—

जं अण्णाणी कम्मं खवेदी भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥२३८॥

इसी गाथा का भाव पं. दौलतराम कृत 'छहढाला' में वर्णित है—

कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान बिन कर्म झरें जे।
ज्ञानी के छिन माँहि, त्रिगुप्ति तें सहज टरें ते॥

उक्त गाथा कुछ शब्दों के हेर-फेर के साथ 'पउमचरिय' में है—

जं अन्नाण तवस्सी खवेइ भवसयसहस्सकोडीहि।
कम्मं तं तिहि गुत्तो खवेइ नाणी मुहुत्तेणं ॥१२०, १७७॥

इससे मिलती-जुलती गाथा 'तित्थोगाली' में उपलब्ध होती है, जो एक अंगबाह्य रचना मानी जाती है और जो कई स्थलों पर आ. कुन्दकुन्द के मूलाचार से साम्य रखती है। गाथा है—

जं अन्नाणी कम्मं खवेइ बहुयाहि वासकोडीहिं।
तं नाणी तिहि गुत्तो खवेइ उस्सासमेत्तेणं ॥१२१३॥

गुरुपट्टावली के अनुसार विभिन्न पट्टावलियों में उन्हे मूलसंघ का नायक कहा गया है। प्रो. हॉर्नले द्वारा निर्मित पट्टावली के अनुसार आचार्य कुन्दकुन्द का समय ई. ८ कहा गया है। (इण्डियन एन्टिक्वेरी, जिल्द २१, पृ ६०-६१)।

उमास्वामी आचार्य कुन्दकुन्द के परवर्ती हैं। अधिकतर पट्टावलियों में उनका जन्म संवत् १०१, कार्तिक शुक्ल अष्टमी कहा गया है। किसी-किसी गुर्वावली में उनसे काष्ठासंघ की उत्पत्ति मानी गयी हैं। उन दोनों आचार्यों की रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने से भी यही प्रतीत होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द उमास्वामी के पूर्व हुए थे।

प्राकृत पट्टावलि मे आचार्य कुन्दकुन्द के दीक्षागुरु का नाम जिन-चन्द्राचार्य लिखा हुआ मिलता है। उनके पिताश्री का नाम करमण्ड और माताजी का नाम श्रीमती था। वे महाजन श्रेष्ठी थे। आचार्य कुन्दकुन्द आजन्म ब्रह्मचारी रहे। साधक अवस्था मे उन्होने घोर तपश्चर्याएँ की थी। मलयदेश के अन्तर्गत हेम ग्राम था, जो कि वर्तमान मे पोन्नूर के सन्निकट नीलगिरि पर्वत की शृंखला मे कुन्दकुन्दाद्रि के नाम से प्रसिद्ध है—कहा जाता है कि यह नीलगिरि -शिखर आ. कुन्दकुन्द की पावन चरण-रज से परिव्याप्त है। इसी प्रकार से कांचीपुर (वर्तमान कांजीपुरम) उस युग में जैन धर्म का महान् केन्द्र था। आचार्य कुन्दकुन्द का अधिकांश समय यही पर व्यतीत हुआ था।

रचनाएँ

श्री जुगलकिशोर मुख्तार ने आचार्य कुन्दकुन्द की २२ रचनाओ का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है— १ प्रवचनसार, २ समयसार, ३. पचास्तिकाय, ४ नियमसार, ५. बारस-अणुवेक्खा, ६ दसणपाहुड, ७. चारित्तपाहुड, ८. सुत्तपाहुड, ९. बोधपाहुड, १० भावपाहुड, ११. मोक्खपाहुड, १२. लिगपाहुड, १३ शीलपाहुड, १४. रयणसार, १५ सिद्ध-भक्ति, १६. श्रुतभक्ति, १७. चारित्रभक्ति, १८ योगि (अनगार) भक्ति, १९. आचार्यभक्ति, २०. निर्वाणभक्ति, २१ पंचगुरु (परमेष्ठि) भक्ति, २२. थोस्सामि थुदि (तीर्थंकरभक्ति)।

इनके अतिरिक्त 'मूलाचार' और 'थिरुकुरल' भी आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाएँ प्रमाणित हो चुकी हैं। इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द की रची हुई चौबीस रचनाएँ उपलब्ध होती है। इनके अतिरिक्त कुछ स्तोत्र भी लिखे हुए मिलते हैं।

डॉ. ए एन. उपाध्ये प्रवचनसार की भूमिका में यह निर्णय पहले ही कर चुके हैं कि मूलाचार आचार्य कुन्दकुन्द की रचना है। स्व. आचार्य शान्तिसागरजी म. आ. कुन्दकुन्द के मूलाचार को शोलापुर से प्रकाशित करवा चुके हैं। उनकी रचनाओं से भी यह प्रमाणित होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द मुनि-चर्या के सम्बन्ध में अत्यन्त सावधान एवं जागरूक थे। अतएव आचार सम्बन्धी किसी ग्रन्थ की रचना अवश्य की थी।

थिरुकुरल

यह एक अत्यन्त आश्चर्यजनक बात है कि जैन और शैव दोनों ही तिरुक्कुरल को पवित्र ग्रन्थ मानते है। नीलकेशी नामक बौद्ध ग्रन्थ के विशद भाष्यकार जैन मुनि समय-दिवाकर इस ग्रन्थ को महान् बताते हैं। यद्यपि इस रचना के प्रारम्भिक मंगलाचरण में कवि ने किसी भगवान् की संस्तुति का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है, फिर भी कमलगामी, अष्ट-गुणयुक्त (सिद्धों के अष्टगुण) प्रयुक्त विशेषणों से तथा उपलब्ध जैन पारिभाषिक शब्दावली से यह स्पष्ट है कि इस कृति के रचनाकार जैन थे। कवि के कुछ स्तुतिपरक वाक्य इस प्रकार हैं—धन्य है उस पुरुष को जो आदि परमपुरुष के पादारविन्द में रत रहता है, जो न किसी से राग करता है और न किसी से द्वेष (ईश्वरस्तुति प्रकरण, ४)। "यदि तुम सर्वज्ञ परमेश्वर के श्रीचरणों की पूजा नहीं करते हो, तो तुम्हारी यह सम्पूर्ण विद्वत्ता किस काम की है?"

"जो लोग उस परम जितेन्द्रिय पुरुष के दर्शाए हुए धर्म-मार्ग का अनुसरण करते है, वे अमरपद प्राप्त करते हैं ।"

"जो मनुष्य अष्टगुण संयुक्त परब्रह्म के चरणकमलों मे नमन नही करता, वह उस अशक्त इन्द्रिय के समान है जिसमें अपने गुण को ग्रहण करने की शक्ति नहीं है ।"

यद्यपि प्रचलित धारणा के अनुसार इस काव्य के रचयिता तिरुवल्लवर अर्थात् सन्त वल्लुवर हैं और यह 'तमिलवेद' है. किन्तु कनकसभाई पिल्लै, एस. वियपुरी पिल्लै, और टी. वी कल्याणसुन्दर मुदलियार ने स्पष्ट रूप से इसमें अहिंसा धर्म का प्रतिपादन होने के कारण इसे जैन-रचना बताया है । पाश्चात्य विद्वानों में एलिस और ग्राउल का भी यही निश्चित विचार है । प्रो. ए. चक्रवर्ती, अणुव्रतपरामर्शक मुनिश्री नगराजजी तथा पं. के. भुजबली शास्त्री इसे आचार्य कुन्दकुन्द की ही रचना मानते हैं । प्रो. ए. चक्रवर्ती के अनुसार तमिल के प्रसिद्ध कवि मामूलनार का समय ईसा की प्रथम शताब्दी मानाजाता है । उनका स्पष्ट कथन है कि कुरल के वास्तविक रचयिता थीवर हैं; न कि वल्लुवर । किन्तु अज्ञानी लोग वल्लुवर को उसका रचयिता बताते हैं । परन्तु बुद्धिमान लोग मूर्खों की ऐसी बातें स्वीकार नही करते । स्वय प्रो. चक्रवर्ती ने आचार्य कुन्दकुन्द के थीवर और एलाचार्य इन दो नामों का उल्लेख किया है । मूल ताड़पत्र प्रतियों के अध्ययन से पता चलता है कि इस ग्रन्थ के टीकाकार भी जैन थे । एक प्रति में स्पष्ट रूप से लिखा हुआ मिलता है– एलाचार्य विरचितं थिरुक्कुरल ।

जैन विद्वान् 'जीवकचिन्तामणि' ग्रन्थ के टीकाकार नचिनार किनियर ने अपनी टीका मे सर्वत्र रचनाकार का नाम थीवर निर्दिष्ट किया है । वास्तव मे तिरु, थिरु या थीवर कोई नाम न होकर विशेषण है । इसलिए यह कहा गया है कि तमिल साहित्य में सामान्यतः 'थीवर' शब्द का प्रयोग जैन श्रमण के अर्थ में किया जाता है । इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि ईसा पूर्व शताब्दी में मिस्र में जैन श्रवण तपस्वियों को 'थेरापूते' कहा जाता था । थेरापूते का अर्थ है–मौनी, अपरिग्रही । यथार्थ में 'थेर' या 'थेरा' अथवा 'थीवर' शब्द मूल 'स्थविर' शब्द से निष्पन्न हुआ है । 'स्थविर' शब्द का अर्थ है–निर्ग्रन्थ मुनि । कन्नड़ में 'थेर' का अर्थ है–तत्त्वज्ञानी । इसके अन्य अर्थ हैं–रथ, ऊँचा । स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द ने 'स्थविर' के लिए 'थेर' शब्द का प्रयोग किया है । उनके ही शब्दों में—

'गुरू-आयरिय-उवज्झायाणं पव्वतित्थेरकु लयराणं णमंसामि ।'
—निषिद्धिकादण्डक

'पव्वतित्थेरकुलयराणं' का अर्थ है–'प्रवर्तितस्थविरकुलकराणां' ।

इस प्रकार 'थिरुकुरल' दो शब्दों से मिल कर बना है–'थिरु' और 'कुरल'। थिरु का अर्थ स्थविर है और 'कुरल' का अर्थ एक छन्द है । स्थविर ने कुरल छन्द मे जिसे गाया था, वह थिरुक्कुरल है । कुरल छन्द संस्कृत के अनुष्टुप् श्लोक से भी छोटा कहा गया है । यह तमिल का विशिष्ट छन्द है, जो 'थिरुक्कुरल' की रचना के अनन्तर प्रचलित हुआ । तमिल साहित्य की जैन रचनाओं मे थिरुक्कुरल, नालडियार, मणिमेखलै, शिलप्पधिकार और जीवकचिन्तामणि अत्यन्त प्रसिद्ध कृतियाँ हैं । थिरुक्कुरल में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ का मुख्य रूप से प्रतिपादन किया गया है । इस

रचना में अधिकतर उक्तियाँ नीतिपरक है, इसलिए इसे काव्यात्मक नीतिरचना भी कहा गया है। प्रो. चक्रवर्ती के अनुसार तिरुवल्लुवर आचार्य कुन्दकुन्द के शिष्य थे। आचार्य कुन्दकुन्द ने इस ग्रन्थ की रचना कर सार्वभौमिक नैतिक सिद्धान्तो के प्रचार के लिए उसे अपने शिष्य तिरुवल्लुवर को सौप दिया था। श्रावक तिरुवल्लुवर इस रचना को लेकर मदुरा की सभा मे गए और वहाँ विद्वानो के समक्ष यह ग्रन्थ प्रकट किया। तभी से तिरुवल्लुवर इसके रचयिता प्रसिद्ध हो गए। इसमे कोई सन्देह नहीं है कि न केवल तमिल प्रदेश मे, वरन् सारे भारतवर्ष मे इसके पूर्व ऐसी सुन्दर रचना किसी सन्त ने नही की। तभी तो भारतीय सस्कृति के मर्मज्ञ चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य का कथन है—यदि कोई चाहे कि भारत के सम्पूर्ण साहित्य का मुझे पूर्ण रूप से ज्ञान हो जाए तो तिरुकुरल को पढ़े बिना उसका अभीष्ट सिद्ध नही हो सकता। "(द्रष्टव्य है : तिरुकुरल (तमिलवेद) · एक जैन रचना-मुनिश्री नगराज के लेख से उद्धृत।)"

पंचास्तिकाय

विषय-रचना की दृष्टि से आचार्य कुन्दकुन्द ने सर्वप्रथम 'पंचास्तिकाय' ग्रन्थ की रचना की होगी। क्योंकि इसमे विश्व के मूल पदार्थों का विवेचन किया गया है। विश्व की रचना जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यो के परस्पर सयोग से मानी जाती है। आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दो में "ये छहों द्रव्य परस्पर अवकाश देते हैं, दूध मे पानी की तरह मिल जाते हैं, फिर भी अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोडते हैं।" (पंचास्तिकाय, गाथा ७)।

द्रव्य का लक्षण करते हुए उन्होने कहा है कि जो सत् है और जिसमे उत्पाद (उत्पत्ति), व्यय (विनाश) और ध्रौव्य (नित्यता) है, वह द्रव्य है। 'द्रव्य' शब्द का अर्थ ही है कि जो स्थिर रहता हुआ भी बनता-बिगड़ता रहे। प्रत्येक वस्तु भाववान है और सत्ता भाव है। सत्ता सत् का भाव या अस्तित्व है, जिससे वस्तु मात्र का अस्तित्व सिद्ध होता है और जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीन लक्षणो से युक्त है। इस प्रकार तत्त्व-चिन्तन के क्षेत्र मे, दार्शनिक जगत् मे आचार्य कुन्दकुन्द अपनी मौलिक स्थापना के कारण आज भी अजेय हैं।

प्रवचनसार

द्रव्य का स्वरूप ज्ञात होने पर ही उनके परस्पर संयोग सम्बन्ध अनुबन्धो और अर्थक्रिया आदि का ज्ञान हो सकता है। 'प्रवचनसार' मे मुख्य रूप से ज्ञान और ज्ञेय तत्त्व का वर्णन किया गया है। आचार्य कहते है—"जो ज्ञानात्मक आत्मा को स्व चैतन्य द्रव्यत्व से संबद्ध और अपने से भिन्न अन्य को परद्रव्यत्व से सबद्ध जानता है, वह मोह का क्षय करता है।" (प्रवचनसार, गाथा ८९)

समयसार

समयसार आचार्य कुन्दकुन्द की सब से अधिक प्रौढ तथा श्रेष्ठ रचना है। इसमे प्रमुख रूप से शुद्ध आत्मानुभूति का वर्णन किया गया है, जो भावलिगी श्रमण को उपलब्ध होती है। 'समयसार' का अर्थ निर्मल आत्मा है। निर्ग्रन्थ मुनि निर्मल आत्मा बनते हैं। शुद्ध आत्मा को उपलब्ध होना ही शिवत्व पद की प्राप्ति करना है। शिवत्व की प्राप्ति भेद-

विज्ञान से ही सम्भव है। विशिष्ट भेद ज्ञान के बल से जब जीव कर्मबन्ध और आत्मा को ज्ञान और तप से पृथक् कर देता है, तब सहज समाधि मे अवस्थित होकर शुद्धात्म संवित्तिरूप, वीतराग, स्वयसेवक ज्ञान मे लीन होता है। बन्ध के और आत्मा के स्वभाव को जानकर निर्विकल्प समाधि में स्थिर रहने वाला परमयोगी ही वीतराग दशा को प्राप्त कर कर्मों को निर्मूल कर सकता है। कर्मों का उन्मूलन कर देने पर शिवत्व की प्राप्ति होने में विलम्ब नही लगता है। इस प्रकार समयसार को उपलब्ध करने योग्य परमतपस्वी मुनि कहे गये हैं। 'समयसार' में नौ अधिकार हैं। इनमें क्रमश: जीव-अजीव, कर्त्ता-कर्म, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष और सर्वविशुद्ध ज्ञान का प्रतिपादन किया गया है।

नियमसार

उक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि पंचास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसार एक क्रम से रची गई आध्यात्मिक रचनाएँ हैं। 'नियमसार' में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों को मिलाकर मोक्ष का मार्ग निरूपित किया गया है। इसमें जीव के बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा ये तीन भेद किये गये हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के वचन हैं—'व्यवहार नय से केवली भगवान् सब जानते है और सब देखते हैं, किन्तु परमार्थ से केवलज्ञानी आत्मा को जानते हैं और देखते हैं।" (प्रवचनसार, गाथा १५९)

इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने व्यवहार और परमार्थ दोनों दृष्टियों का वर्णन किया है। अपने किसी भी ग्रन्थ में उन्होंने अपनी इस युगपत् दृष्टि को त्यागा नही है। दोनों नयों (दृष्टिकोण) को ध्यान में रखकर सर्वत्र विवेचन किया गया है। इसी प्रकार से ज्ञान को स्व-पर प्रकाशक कहा गया है। जब ज्ञान सहज परमात्मा को जान लेता है, तब अपने आप को और लोक-अलोक के समस्त पदार्थों को प्रकाशित करता है।

इस सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि अत्यन्त विशद एव स्पष्ट है। अनुभूति और तर्क की कसौटी पर वह खरी उतरती है। उस में मौलिकता और चिन्तन की गम्भीरता है। अतएव नय-पक्षो से और पक्षातीत स्वानुभूति का सम्यक् प्रतिपादन किया गया है। 'नियमसार' और 'रयणसार' दोनों ही रचनाओं में आचार-सम्बन्धी वर्णन होने के कारण जहाँ व्यवहार नय से प्रतिपादन किया गया है, वहीं निश्चय नय का कथन छूटने नहीं पाया है। आचार्य दोनों नयों को तथा प्रमाणो को ध्यान में रखकर कथन करते हैं। यही अनेकान्त-दृष्टि है। कहा भी है—

इदि णिच्छयववहारं जं भणियं कुन्दकुन्दमुणिणाहें।
जो भावइ सुद्धमणो सो पावइ परमणिव्वाणं।। द्वादशानुप्रेक्षा, ९१

श्री कुन्दकुन्दाचार्य के समयसार, प्रवचनसार और नियमसार को 'नाटकत्रय' भी कहा जाता है। श्री नेमिचन्द्र ने 'सूर्यप्रकाश' में कहा है—

अन्ते समयसारं च नाटकं च शिवार्थदं,
पंचास्तिकायनामाढ्यं वीरवाचोपसंहितम्।
आद्यं प्रवचनचैव मध्यस्थं सारसंज्ञकं,
सम्बोधार्थं च भव्यानां चक्रे सत्यपदार्थदम्।।

यत्याचारामिधं ग्रन्थ श्रावकाचारमञ्जसा.
ध्यानग्रन्थं क्रियापाठ प्रत्याख्यानादिसद्विधीन् ।
प्रतिघ्नांहोनाशार्थं प्रतिक्रमणसंयुतं.
मुनीनां च गृहस्थाना चक्रे सामायिकं तदा ।।
जिनेन्द्रस्नानपाठं च स्नपनार्थं जिनस्य वै,
यस्याकरणमात्रेण प्राप्नुवन्ति सुरसुखम् ।
प्रभूणा पूजनं चापि तेषा गुणविभूषितं,
स्तवन चित्तरोधार्थं रचयामास स मुनि.।।
—सूर्यप्रकाश, ३४५-३५०

इससे स्पष्ट है कि 'समयसार' सभी रचनाओं के अन्त में रचा गया। यथार्थ में आचार्य कुन्दकुन्द ने अध्यात्मविषयक स्तोत्र-स्तुति, पूजा-पाठ आदि कोई भी विषय नही छोड़ा, जिस पर अपनी लेखनी न चलाई हो। इन सभी रचनाओं मे हमें दो बातें मुख्य लक्षित होती हैं: प्रथम भाव-विशुद्धि और दूसरे पर-पदार्थों से आसक्ति को हटाना। 'रयणसार' मे भी यही वृत्ति मुख्य है।

रयणसार

जिस प्रकार 'प्रवचनसार' मे आगम के सारभूत शुद्धात्म तत्त्व का वर्णन किया गया है, उसी प्रकार 'नियमसार' मे नियम के साररूप शुद्ध रत्नत्रय का और 'समयसार' मे शुद्ध आत्मा का वर्णन किया गया है। ये तीनों ही ग्रन्थ सातवें गुणस्थानवर्ती श्रमण को ध्यान मे रखकर लिखे गए हैं। और अन्त में सहजलिंग से ही मुक्ति का प्रतिपादन किया गया है। इस भाव को आचार्य जयसेन ने अपनी टीका में अत्यन्त विशदता और स्पष्टता के साथ निरूपित किया है। उनके ही शब्दों मे—

"यद्यप्ययं व्यवहारनयो बहिर्द्रव्यावलम्बत्वेनाभूतार्थस्तथापि रागादिबहिर्द्रव्यावलम्बनरहितविशुद्धज्ञानस्वभावस्वावलम्बनसहितस्य परमार्थस्य प्रतिपादकत्वाद्दर्शयितुमुचितो भवति। यदा पुनर्व्यवहारनयो न भवति तदा शुद्धनिश्चयनयेन त्रसस्थावरजीवा न भवंतीति मत्वा निःशंकोपमर्दनं कुर्वन्ति जना.।"

यथार्थ मे अध्यात्मशास्त्र को समझने के लिए व्यवहार और निश्चय दोनो ही दृष्टियों की अपेक्षा है। निरपेक्षनय मिथ्या कहे गये हैं। व्यवहार नय अपनी अपेक्षा से सत्य है, पर निश्चय नय की अपेक्षा से असत्यार्थ एवं अभूतार्थ है। आ अमृतचन्द्र के शब्दों मे—"न चैतद्विप्रतिषिद्धं निश्चयव्यवहारयोः साध्यसाधनभावत्वात्सुवर्णस्वर्णपाषाणवत्। अतएवोभयनयायत्ता पारमेश्वरी तीर्थप्रवर्तनेति।" —पंचास्तिकाय, १५९ वी गाथा की टीका।

निश्चय साध्य है और व्यवहार साधन। इन दोनों दृष्टियों को लेकर आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों की रचना की है। अतएव 'ज्ञानी ज्ञान का कर्त्ता है' यह कथन भी व्यवहार है। व्यवहार कारण है और निश्चय कार्य। कहा भी है—

मोक्षहेतु पुनर्द्वेधा निश्चयाद्-व्यवहारतः ।
तत्र आद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ।।
—तत्त्वानुशासन, २८

तथा— जीवोऽप्रविश्य व्यवहारमार्गं, न निश्चयं ज्ञातमुपैति शक्तिम् ।
प्रभाविकाशेक्षणमन्तरेण, भानूदयं को वदते विवेकी ।।
आराधनासार, ७, ३०

स्वसंवेदन की अनुभूति शब्दों में वर्णित नहीं की जा सकती। इसलिए जन सामान्य को ध्यान मे रखकर 'अष्टपाहुड' आदि जिन ग्रन्थों की रचना की गयी, उनमें 'रयणसार' व्यवहाररत्नत्रय का प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ है। अन्य रचनाओं की भाँति इसमें भी शुद्ध आत्मतत्त्व को लक्ष्य में रखकर गृहस्थ और मुनि के संयमचारित्र का निरूपण किया गया है। मुख्य रूप से यह आचारशास्त्र है। निम्नलिखित समानताओं के कारण यह आचार्य कुन्दकुन्द की रचना सिद्ध होती है —

(१) संघटना की दृष्टि से आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओं को दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—सारमूलक रचनाएँ और पाहुड-मूलक। भक्ति और स्तुतिविषयक रचनाएँ इनसे भिन्न हैं। प्रवचनसार, समयसार और रत्नसार (रयणसार) के अन्त मे 'सार' शब्द का सयोग ही रचना-सादृश्य को सूचित करता है।

(२) प्रवचनसार, नियमसार, और रयणसार का प्रारम्भ तीर्थंकर महावीर के मंगलाचरण से होता है। 'नियमसार' की भाँति 'रयणसार' मे भी ग्रन्थ का निर्देश किया गया है। यथा—

णमिऊण जिणं वीरं अणंतवरणाणदंसणसहाव।
वोच्छामि णियमसार केवलिसुदकेवलीभणिदं ॥१॥

तथा— णमिऊण वड्ढमाणं परमप्पाण जिणं तिसुद्धेण।
वोच्छामि रयणसारं सायारणयारधम्मीणं ॥१॥

उक्त गाथाओं में शब्द-साम्य भी दृष्टव्य है। 'समयसार' में भी 'वोच्छामि समयपाहुड' इत्यादि कहा गया है।

(३) इन सभी ग्रन्थों के अन्त में रचना का पुन: नामोल्लेख किया गया है और सागार (गृहस्थ) और अनगार (मुनि) दोनों के लिए आगम का सार बताया गया है। कहा है—

बुज्झदि सासणमेयं सागारणगारचरियया जुत्तो।
जो सो पवयणसारं लहुणा कालेण पप्पोदि ॥ प्र. सा., २७५

एवम्— सम्मत्तणाणं वेरग्गतवोभाव णिरीहवित्तिचारित्तं।
गुणसीलसहाव उप्पज्जइ रयणसारमिणं ॥ रयणसार, १५२

(४) इसके अतिरिक्त रयणसार में दो-तीन स्थलों पर (गाथा १४८, ८४,१०५) 'प्रवचनसार' के अभ्यास का उल्लेख किया गया है, जो शुद्ध आत्मा रूप आगम के सार तत्त्व और प्रवचनसार ग्रन्थ का भी सूचक हो सकता है। पंचास्तिकाय में भी कहा गया है—"एवं पवयणसारं पंचत्थि-संगहं वियाणित्ता।" (१०३)

(५) रयणसार में कहा गया है—

णिच्छयववहारसरूवं जो रयणत्तयं ण जाणइ सो।
जं कीरइ त मिच्छारूवं सव्वं जिणुद्दिट्ठं ॥ र. सा., १०९

समयसार मे भी—

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥ समयसार, १६

आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं : "येनैव हि भावेनात्मा साध्य: साधनं च स्यात्तेनैवायं नित्यमुपास्य इति स्वयमाकूय परेषां व्यवहारेण साधुना दर्शनज्ञानचारित्राणि नित्यमुपास्यानीति प्रतिपाद्यते।" अर्थात् साधु को

दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप रत्नत्रय को भेद (साधन) और अभेद (साध्य) जिस भाव से भी हो नित्य सेवन करना चाहिए। आचार्य जयसेन ने इसका विस्तार से स्पष्टीकरण किया है। वास्तव मे रत्नत्रय मोक्ष-मार्ग है, जिसका चारित्र के रूप में लगभग सभी रचनाओ में वर्णन किया गया है। किन्तु 'रयणसार' मे यह वर्णन सरल है।

(६) रयणसार की अन्तिम गाथा है—

इदि सज्जणपुज्जं रयणसारं गथं णिरालसो णिच्चं।
जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ सासय ठाण ॥१५५॥

मोक्षपाहुड के वचन है:—

जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ सासयं मोक्ख ॥१०६॥

भावपाहुड मे भी कहा गया है.—

जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ अविचलं ठाणं ॥१६४॥

द्वादशानुप्रेक्षा का कथन है.—

जो भावइ सुद्धमणो सो पावइ परमणिव्वाणं ॥९१॥

समयपाहुड में उल्लेख है.—

जो समयपाहुडमिणं पडिहूणं · · · सो पावदि उत्तमं मोक्खं ।४३७।

उक्त सभी पंक्तियों मे एक क्रम तथा शब्द-साम्य परिलक्षित होता है।

(७) सम्यग्दर्शन और सम्यग्दृष्टि की महिमा आचार्य कुन्दकुन्द की सभी रचनाओं मे प्रकारान्तर से वर्णित मिलती है। 'रयणसार' की अधिकतर गाथाओ मे सम्यग्दर्शन का व्याख्यान है। जैसे कि– (अ) सम्यग्दर्शन रूपी सुदृष्टि के बिना देव, गुरु, धर्म आदि का दर्शन नहीं होता, (आ) सम्यक्त्व सूर्य के समान है, (इ) सम्यक्त्व कल्पतरु के समान है, (ई) सम्यक्त्व औषध है. कहा है—

पुव्व सेवइ मिच्छामलसोहणहेउ सम्मभेसज्जं।
पच्छा सेवइ कम्मामयणासणचरियसम्मभेसज्जं॥ रणयसार, ६२

अर्थात् प्रथम मिथ्यात्वमल की शुद्धि के लिए सम्यक्त्व रूपी औषधि का सेवन करे, पश्चात् कर्म रूपी रोग को मिटाने के लिए चारित्र रूपी औषधि का सेवन करना चाहिए।

आचार्य जयसेन की टीका से युक्त समयसार की गाथा २३३ में लगभग यही भाव व्यक्त किया गया है।

सम्यग्दर्शन के आठ अग होते हैं। सम्यग्दृष्टि सातों व्यसन, सात प्रकार के भय, पच्चीस शंकादिक दोषो से रहित तथा संसार, शरीर और भोगो की आसक्ति से हट कर नि.शंकादिक आठ गुणों से सहित पाँच परमेष्ठियों में शुद्ध भक्ति-भावना रखता है। 'रयणसार' में कहा है—

भयविसणमलविवज्जिय संसारसरीरभोगणिव्विण्णो।
अट्ठगुणंगसमग्गो दंसणसुद्धो हु पंचगुरुभत्तो ॥५॥

'समयसार' के वचन है—

सम्मदिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका ॥२२८॥

अर्थात् सम्यग्दृष्टि निःशंक एवं निर्भय होते हैं, क्योंकि वे सातों भयों से रहित होते हैं।

सम्यक्त्व के बिना दान, पूजा, जप, तप आदि सब निरर्थक कहा गया है। यह भाव 'रयणसार' की गाथा ९ और १४२ तथा जयसेनाचार्य की टीका से युक्त समयसार की गाथा में २९२ में लगभग समान रूप मे वर्णित है।

(८) 'मोक्खपाहुड' और 'रयणसार' की निम्नलिखित गाथाओं में साम्य लक्षित होता है—

देहादिसु अणुरत्ता विसयासत्ताकसायसजुत्ता ।
अप्पसहावे सुत्ता ते साहू सम्मपरिचत्ता।। —रयणसार, ९३

तथा— जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि ।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे ।। —मोक्खपाहुड, ३१
अण्णाणी विसयविरत्तादो होइ सयसहस्सगुणो ।
णाणी कसायविरदो विसयासत्तो जिणुद्दिट्ठं ।। —रयणसार, ६३

एवं— उग्गतवेण णाणी जं कम्मं खवदि भवहि बहुएहि ।
त णाणी तिहिंगुत्तिहिं खवेइ अंतोमुहुत्तेण ।। —मोक्खपाहुड, ५३
सम्मत्त विणा रुई भत्तिविणा दाणं दयाविणा धम्मो ।
गुरुभत्तिविणा तवचरिय णिप्फलं जाण ।। —रयणसार, ७३

इसी प्रकार—

तच्चरुई सम्मत्त तच्चगहणं च हवई सण्णाण ।
चारित्तं परिहारो परूविय जिणवरिंदेहि ।। —मोक्खपाहुड, ३८
कम्मादविहावसहावगुणं जो भाविऊण भावेण ।
णियसुद्धप्पा रुच्चइ तस्सय णियमेण होइ णिव्वाण ।।
—रयणसार, ११३

तथा— अप्पा अप्पमि रओ रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो ।
संसारतरणहेउ धम्मोत्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठो ।। —भावपाहुड, ८५

(९) यही भाव "पद्मनन्दिपंचविंशतिका" में भी प्राप्त होता है। यथा—

तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्त्तापि हि श्रुता ।
निश्चितं स भवेद् भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम् ।। २३।।

(१०) रयणसार में 'पत्तविसेस' का (उत्तम पात्र का) बहुत वर्णन किया गया है। अन्य पात्रों मे अविरत, देशविरत, महाव्रत, तत्त्वविचारक और आगमरुचिक आदि कई प्रकार के पात्रों का निर्देश किया गया है। कहा है—

अविरददेसमहव्वय आगमरुइणं वियारतच्चण्हं ।
पत्तंतरं सहस्सं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं ।। —रयणसार, १०६

आचार्य कुन्दकुन्द ने 'द्वादशानुप्रेक्षा' में भी पात्रों के इन भेदों का उल्लेख किया है। उनके ही शब्दों में—

उत्तमपत्तं भणियं सम्मत्तगुणेण संजुदो साहू ।
सम्मादिट्ठी-सावय मज्झिमपत्तो हु विण्णेयो ।।
णिद्दिट्ठो जिणसमये अविरदसम्मो जहण्णपत्तोत्ति ।
सम्मत्तरयणरहिओ अपत्तमिदि संपरिक्खेज्जो ।।
—द्वादशानुप्रेक्षा, १७,१८

तथा— "उत्तमपत्तु मुणिंदु जगि मज्झिमु सावउ सिद्ध ।
अविरयसम्माइट्ठि जणु पभणिउ पत्तु कणिट्ठु ।"
—सावयधम्मदोहा, ७९

(११) इसी तरह 'मूलाचार' और 'रयणसार' के भावो में कहीं-कही साम्य लक्षित होता है । उदाहरण के लिए—

पुव्व जो पंचेंदिय तणुमणुवचिहत्थपायमुंडाउ ।
पच्छा सिरमुंडाउ सिवगइ पहणायगो होइ ।। —रयणसार, ६९

एवं— पंच वि इंदियमुंडा वचमुंडा हत्थपायमणमुंडा ।
तणु मुंडेण वि सहिया दसमुंडा वण्णिया समये ।। मूलाचार, ३, ९

(१२) भावो की दृष्टि से 'समयसार' और 'रयणसार' में निम्न-लिखित साम्य परिलक्षित होता है । "ज्ञान के बिना मोक्ष नहीं होता ।" यह भाव दोनों में समान रूप से वर्णित है ।

देखिए—

णाणब्भासविहीणो सपर तच्चं ण जाणए किंवि ।
झाणं तस्स ण होइ दु जाव ण कम्मं खवेहु णहु मोक्खो ।।
—रयणसार, ८२

तथा— णाणगुणेण विहीणा एय तु पय बहू वि ण लहंते ।
तं गिण्ह णियदमेद जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं।।
—समयसार, २०५

दोनों ही ग्रन्थों मे ध्यान को अग्निरूप कहा गया है । दृष्टव्य है– रयणसार गाथा १४९-२०५ और आचार्य जयसेन की टीका मे युक्त समयसार, गाथा २३४ । इसी प्रकार मुनि जब तक जिनलिंग धारण नहीं करता, तब तक वह मोक्ष-मार्ग का नायक नहीं होता । यह भाव रयणसार में गा. १५० और आ. जयसेन की टीका से युक्त समयसार में २४५-२५१ मे वर्णित है । इसी प्रकार-सम्यक्त्व के बिना कोरे व्रतादिक करना व्यर्थ हैं । यह भाव रयणसार गा. १११ में और जयसेनाचार्य की टीका युक्त समयसार में २९२ गाथा में वर्णित है । यही नहीं, रयणसार में ज्ञानी कर्त्ता, कर्म-भाव मे रहित, द्रव्य, गुण और पर्यायों से स्व-पर-समय को जानने वाला कहा गया है । 'समयसार' में भी कर्त्ताकर्माधिकार में आत्मा के कर्तृत्व और कर्मत्व का निषेध किया गया है । यथा—

दव्वगुणपज्जएहि जाणइ परसमय–समयादि विभेयं ।
अप्पाणं जाणइ सो सिवगइपहणायगो होइ ।। —रयणसार, १२७

और— णवि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए ।
णाणी जाणतो वि हु पुग्गलकम्मं अणेयविहं।। —समयसार, ७६

स्वसमय और परसमय का वर्णन भी दोनों ग्रन्थों में समान लक्षित होता है ।

इसी प्रकार शुद्ध पारिणामिक परमभाव को एवं निर्मल आत्मा को दोनो ग्रन्थो में उपादेय कहा गया है । मुनिराज इसी प्रकार के निर्मल स्वभाव मे युक्त होते है । ज्ञानी को दोनों ग्रन्थों मे 'भावयुक्त' एवं 'आत्मस्वभाव में लीन' कहा गया है–दृष्टव्य है: रयणसार, गाथा ९३ और समयसार जयसेनाचार्य की टीकायुक्त, गाथा ३०३ । कहा भी है—

ण य रायदोसमोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा ।
सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसिं भावाणं ।। —समयसार, २८०

'रयणसार' में कहा गया है कि जो विकथाओं से उन्मुक्त अधःकर्म और उद्देसिक (अधःकर्म आदि पुद्गल द्रव्य के दोषों को वास्तव में नहीं करता, क्योंकि वे परद्रव्य के परिणाम हैं) से रहित धर्मोपदेश देने में

कुशल और बारह भावनाओं से युक्त होता है, वह ज्ञानी मुनि है। उनके ही शब्दों में—

विकहाइविप्पमुक्को आहाकम्माइविरहिओ णाणी।
धम्मदेसणकुसलो अणुपेहाभावणाजुदो जोई॥ —रयणसार, ८७

तया— आधाकम्माईया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा।
कह ते कुव्वइ णाणी परदव्वगुणाउ जे णिच्च॥—समयसार, २८६

अन्त में सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप रत्नत्रय के ये तीन भाव व्यवहार से कहे जाते हैं; निश्चय से नहीं। कहा है—

ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो॥ —समयसार, गा. ७

तया— रयणत्तयकरणत्तय गुत्तित्तय विसुद्धेहि।
संजुत्तो जोई सो सिवगईपहणायगो होई॥ —रयणसार, १३१

इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी कतिपय विशिष्ट एवं पारिभाषिक शब्दों के सटीक प्रयोग तथा वाक्य-विन्यास का सादृश्य देखा जा सकता है। विस्तार के भय से उन सब बातों का उल्लेख एवं विवेचन करना उचित न होगा।

मुनिश्री विद्यानन्दजी ने "रयणसार'–आ. कुन्दकुन्द की मौलिक कृति" शीर्षक लेख में जो 'वीरवाणी' में प्रकाशित हो चुका है–आ. समन्तभद्र के 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' पर 'रयणसार' का प्रभाव सप्रमाण दर्शाते हुए कहा है कि 'रयणसार' का 'रत्नकरण्ड' पर पूरा प्रभाव है। प्रतीत होता है कि उमास्वामी, आ. सिद्धसेन, पूज्यपाद, अमितगति, दौलतराम प्रभृति आ. कुन्दकुन्द के 'रयणसार' से प्रभावित थे। समन्तभद्र स्वामी ने तो 'रत्नकरण्ड' यह नाम ही 'रयणसार' के सादृश्य में रखा है। प्राकृत के 'रयण' का संस्कृत 'रत्न' और 'सार' व 'करण्ड' शब्दों में बहुत कुछ भाव-साम्य है।"

ग्रन्थ की अन्तरंग परीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'रयणसार' की रचना 'प्रवचनसार' और 'नियमसार' के पश्चात् की गई थी। किन्तु इसके रचयिता कोई भट्टारक या मुनि नहीं थे, जैसा कि भ्रमवश समझा जाता है। क्योंकि अनुकरण करने वाला यदि आ. कुन्दकुन्द के नाम पर कोई रचना लिखता, तो उनकी किसी रचना को ध्यान में रखकर गाथाओं की संख्या, विषय-प्रवर्तन, संरचना आदि में ताल-मेल अवश्य बैठाता। परन्तु इस रचना में गाथाओं की संख्या सब से कम है, विषय एक निश्चित क्रम से जन सामान्य के लिए वर्णित किया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें 'प्रवचनसार' और 'नियमसार' के कुछ विचारों की पूरक गाथाएँ भी मिलती हैं। उदाहरण के लिए—

जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं।
जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं॥ —प्रवचनसार, ८१

अर्थात् जो मोह को दूर कर सम्यक् आत्मतत्त्व को उपलब्ध कर लेता है, वह जीवात्मा यदि राग-द्वेष को छोड़ता है तो शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है।

इसके ही पूरक वचन हैं :

णियतच्चुवलद्धिविणा सम्मत्तुवलद्धि णत्थि णियमेण ।
सम्मत्तुवलद्धिविणा णिव्वाण णत्थि जिणुद्दिट्ठं ।।
—रयणसार, ७९

अर्थात् आत्मज्ञान की प्राप्ति के बिना नियम से सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होता । सम्यक्त्व को पाए बिना मोक्ष नही होता, ऐसा जिनदेव ने कहा है ।

प्रथम गाथा में मोह को दूर किए बिना आत्मतत्त्व की उपलब्धि नही होती, कहा गया है और दूसरी में आत्मज्ञान के बिना सम्यक्तत्त्व (आत्म-तत्त्व) उपलब्ध नही होता, यह कथन परस्पर सापेक्ष होने के कारण एक दूसरे के पूरक है । इसी प्रकार नियमसार का कथन है—

दव्वगुणपज्जयाण चित्त जो कुणइ सोवि अण्णवसो ।
मोहाधयारववगयसमणा कहयंति एरिसय ।। —नियमसार, १४५

अर्थात् जो मोह-अन्धकार से रहित निर्मल आत्मा है, ऐसे श्रमणों का कथन है कि जो अपने चित्त से द्रव्य, गुण और उनकी पर्यायो मे लीन हैं, वे अपने शुद्ध स्वभाव में नहीं हैं तथा परवश हैं ।

इसके आगे के वचन है—

दव्वगुणपज्जएहिं जाणइ परसमयससमयादिविभेयं ।
अप्पाणं जाणइ सो सिवगइ पहणायगो होइ ।। —रयणसार, १२७

अर्थात् जो जीवात्मा की अशुद्ध अवस्था के साथ ही अपने शुद्ध स्वभाव को भी द्रव्य, गुण, पर्याय के रूप में जानता है, वह शिव-पथ का नायक होता है यानी मोक्ष प्राप्त करता है । इसी को स्पष्ट एवं विशद करते हुए कहा गया है कि जो चारित्र, दर्शन और ज्ञान मे अवस्थित है, वह 'स्वसमय' है । परमात्मा 'स्वसमय' है । अशुभ भाव वाले जीव बहिरात्मा और शुभ भावी जीव अन्तरात्मा हैं । ये दोनों ही 'परसमय' हैं । यही भाव 'समयसार' मे इस प्रकार वर्णित है—

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण ।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं ।। —समयसार, २

अर्थात् जीव दो प्रकार के हैं—मुक्त और ससारी । जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र में तन्मय होकर रहते हैं, वे मुक्त जीव है और जो पुद्गल प्रदेशों मे अवस्थित होकर रहता है, उसे संसारी जीव कहते है ।

'रयणसार' में यह भी कहा गया है कि प्रथम तीन गुणस्थानों में रहने वाले जीव बहिरात्मा हैं । चौथे गुणस्थान के सम्यग्दृष्टि जीव जघन्य अन्तरात्मा हैं । पाँचवे गुण स्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक भावों की विशुद्धि की तारतम्यता के अनुसार जीव मध्यम अन्तरात्मा हैं । बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव अन्तरात्मा हैं और तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान वाले जीव परमात्मा है । 'मोक्षपाहुड' मे तत्त्वरुचि को 'सम्यक्त्व' कहा गया है और 'रयणसार' मे 'सम्यक्त्व' के बिना रुचि नहीं' पूरक कथन है ।

इस विषय-विवेचन से अत्यन्त स्पष्ट है कि आचार्य कुन्दकुन्द के सिवाय अन्य कोई ऐसी सटीक रचना नही लिख सकता था । रचना सरल होने पर भी गूढ अर्थ से गुम्फित है । रचना-साम्य की दृष्टि से भी कुछ स्थल द्रष्टव्य है—

(१) कालमणत जीवो मिच्छत्तसरूवेण पंचसंसारे । —रयणसार, १४०
कालमणंतं जीवो जम्मजरा० । —भावपाहुड, ३४

(२) पावारंभणिवित्ती पुण्णारंभे पउत्तिकरणं पि । –रयणसार, ८४
असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं ।द्वादशानुप्रेक्षा, ४२

(३) जाव ण जाणइ अप्पा अप्पाणं दुक्खमप्पणो ताव । –रयणसार, ७८
जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोह्णं पि । –समयसार, ६९

(४) दया विणा धम्मो—रयणसार, ७३
धम्मो दयाविसुद्धो—बोधपाहुड, २४

(५) अज्जवसप्पिणिभरहे धम्मज्झाणं पमादरहियमिदि ।

–रयणसार, ५१

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुम्स । –मोक्षपाहुड, ७६

भाव-साम्य की दृष्टि से कुछ अन्य स्थल हैं—

जो सो होइ कुदिट्ठी ण होइ जिणमग्गलग्गरवो ।–रयणसार, ३

तथा— सम्माइट्ठी सावयधम्मं जिणदेवदेसियं कुणदि ।
विवरीयं कुव्वंतो मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो ।। –मोक्षपाहुड, ९४

इसी प्रकार—णाणेण झाणसिज्झी झाणादो सव्वकम्मणिज्जरणं ।
णिज्जरफलं मोक्ख णाणब्भासं तदो कुज्जा ।।

–रयणसार, १३८

और— दंसणणाणसमग्गं झाणं णो अण्णदव्वसंजुत्तं ।
जायदि णिज्जरहेदू सभावसहिदस्स साधुस्स ।।

–पंचास्तिकाय, १५२

एव— णाणब्भासविहीणो सपर तच्च ण जाणए किंपि ।
झाण तस्स ण होइ दु ताव ण कम्मं खवेइ णहु मोक्खं ।।

–रयणसार, ८२

तथा— णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहिसंबद्धं ।
जाणदि जदि णिच्छयदो जो सो मोहक्खयं कुणदि ।।

–प्रवचनसार, ८९

इसी प्रकार—

विकहाइविप्पमुक्को आहाकम्माइविरहियो णाणी ।

–रयणसार, ८७

और— आधाकम्मादीया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा ।
कह ते कुव्वदि णाणी परदव्वगुणा हु जे णिच्चं ।।

–समयसार, २८६

इसी प्रकार—

संजम-तव-झाणज्झयणविण्णाणं गिण्हपडिग्गहणं ।
वंचइ गिण्हइ भिक्खु णु सक्कदे वज्जिदुं दुक्खं ।।

–रयणसार, १०३

तथा— ण हि णिरवेक्खो चागो ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसुद्धो ।
अविसुद्धस्स य चित्ते कहं णु कम्मक्खओ विहिओ ।।

–प्रवचनसार, २२०

एवं— देहादिसु अणुरत्ता विसयासत्ता कसायसंजुत्ता ।
अप्पसहावे सुत्ता ते साहू सम्मपरिचत्ता ।। –रयणसार, ९३

और— इहलोगणिरवेक्खो अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्मि ।
जुत्ताहारविहारो रहिदकसाओ हवे समणो ।।

—प्रवचनसार, २२६

इसी प्रकार—वयगुणसीलपरीसहजयं च चरियं तवं छडावसयं ।
झाणज्झयणं सव्वं सम्मविणा जाण भवबीयं ।।

—रयणसार, १११

तथा— किं काहदि वणवासो कायकलेसो विचित्तउववासो ।
अज्झयणमोणपहुदी समदारहियस्स समणस्स ।।

—नियमसार, १२४

एवं— उवसमणिरीहझाणज्झयणाइ महागुणा जहा दिट्ठा ।
जेसिं ते मुणिणाहा उत्तमपत्ता तहा भणिया ।।

—रयणसार, १०७

और— झाणणिलीणो साहू परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं ।
तम्हा दु झाणमेव हि सव्वदिचारस्स पडिकमणं ।।

—नियमसार ९३

"मोक्षपाहुड" मे कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि श्रावकधर्म का पालन करता है। यदि वह उससे विपरीत करता है, तो मिथ्यादृष्टि है। कहा है—

सम्माइट्ठी सावयधम्मं जिणदेवदेसियं कुणदि ।
विवरीयं कुव्वंतो मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो ।। —मोक्षपाहुड, ९४

"रयणसार" में श्रावकधर्म में दान, पूजा को मुख्य बताया गया है और मुनि-धर्म मे ध्यान और अध्ययन को। आचार्य कुन्दकुन्द के ही शब्दों में—

दाणं पूया मुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा ।
झाणाज्झयणं मुक्खं जइधम्मे तं विणा तहा सो वि ।। रयणसार, १०

उसमें यह भी कहा गया है कि दान, पूजा, ब्रह्मचर्य, उपवास तथा अनेक प्रकार के व्रत सम्यग्दर्शन के साथ पालन करने पर मोक्ष को देने वाले हैं और सम्यग्दर्शन के बिना दीर्घ संसार के कारण हैं (रयणसार, गाथा १०)। ये पुण्य के कारण अवश्य हैं। "भावपाहुड" में भी कहा गया है कि व्रत सहित पूजा, दान आदिक जिनशासन में पुण्य के कारण कहे गए हैं। निश्चय धर्म तो आत्मा मे है और वह मोह, राग-द्वेष से रहित समता परिणामों से प्रकट होता है। आचार्य के शब्दों में—

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहि सासणे भणियं ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ।।

—भावपाहुड, ८३

धर्म को ही चारित्र कहा गया है। आचार्य कुन्दकुन्द की यह चिन्तना उनकी सभी रचनाओ में समान रूप से व्याप्त मिलती है। यथा—

चारित्तं खलु धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ।। —प्र. सा., ७

जैन विद्वानो के अनुसार जिन बातो के कारण 'रयणसार' ग्रन्थ पूर्ण रूप से आचार्य कुन्दकुन्द की रचना या प्रकृति से मेल नहीं खाता, उनमें एक गण-गच्छादि का उल्लेख भी है। किन्तु जैन साहित्य का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि आचार्य मूलसंघ के नायक थे और देशीगण से उनके अन्वय का घनिष्ठ सम्बन्ध था। मर्करा के ताम्रपत्र में देशीगण के साथ

कुन्दकुन्दान्वय का भी उल्लेख है, जो आचार्य कुन्दकुन्द के अन्वय का ही उल्लेख है (द्रष्टव्य है : जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृ. ६०४)। निश्चित रूप से आचार्य कुन्दकुन्द के समय मे संघ, गण, गच्छ और कुल आदि प्रचलित थे। आ. उमास्वामी ने उल्लेख किया है—

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानाम् ।

—तत्त्वार्थसूत्र अ. ९, सू. २४

इसी प्रकार से शिलालेखों में तथा ग्रन्थ-प्रशस्तियों में उल्लेख मिलते हैं। कहा भी है—

सिरिमूलसघ-देसियगण-पुत्थयगच्छ-कोडकुंदाण ।
परमण्ण-इंगलेसर-बलिम्मि-जादस्स-मुणिपहाणस्स ।।

—भावत्रिभंगी, ११८, परमागमसार, २२६

आचार्य शिवार्य का कथन है—

तो आयरियउवज्झायसिस्ससाधम्मिगे कुलगणे य ।

—भगवती आराधना, ५,७१०

आचार्य कुन्दकुन्द के समय मे श्रमणो का एक अलग ही गण बन चुका था। उनके ही वचन हैं·

समण गणि गुणड्ढं कुलरूववयोविसिट्ठमिट्ठदर ।
समणेहि तं पि पणदो पडिच्छ मं चेदि अणुगहिदो ।।

—प्र. सा., २०३

तथा— "रत्नत्रयोपेत· श्रमणगणः संघ." —सर्वार्थसिद्धि ६, १३

यथार्थ मे आचार्य कुन्दकुन्द के समय में ही गण-गच्छ उत्पन्न हो रहे थे। इसलिये उनका कथन है कि मुनियो को गण-गच्छ आदि के विकल्पों मे नही पड़ना चाहिये (गा. १४४)। क्योंकि मुनियों का गण-गच्छ तो रत्नत्रय है। उन्हे अपनी निर्मल आत्मा में लीन रहना चाहिये। वही उनके लिये गण-गच्छ, संघ और समय है। उनके ही शब्दों में—

रयणत्तमेव गणं गच्छ गमणस्स मोक्खमग्गस्स ।
सघो गुणसघाओ समयो खलु णिम्मलो अप्पा ।। रयणसार, १५३

आचार्य कुन्दकुन्द के समय मे शिथिलाचार बढ़ रहा था। यहाँ तक कि तीन सौ तिरेसट मतों का प्रचलन था। अत· विधि-निषेध करना आवश्यक होगया था। "भावपाहुड" मे कहा गया है—

पासंडी तिण्णिसया तिसट्ठिभेया उमग्ग मुत्तूण ।
रुंभहि मण् जिणमग्गे असप्पलावेण कि बहुणा ।। —भाव. पा. १४२

"लिगपाहुड" मे मुनिचर्या के सम्बन्ध में अनेक ज्ञातव्य तथ्यों का उल्लेख किया गया है, जो उस युग की धार्मिक परिस्थितियो पर प्रकाश डालने वाले है। "रयणसार" और "भावपाहुड" दोनों रचनाओं में "भाव" का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। भाव एक पारिभाषिक शब्द है, जो निश्चय सम्यक्त्व का व शुद्ध आत्मा का अनुभूति रूप श्रद्धान एवं सम-भाव है। कहा है—

भावसहिदो य मुणिणो पावइ आराहणाचउक्कं च ।
भावरहिदो य मुणिवर भमइ चिरं दीहसंसारे ।। —भाव. पा. ९९

मुनि के लिए भावसयम नितान्त अनिवार्य बताया गया है। भावश्रमण

मुनि निश्चय ही सुख प्राप्त करते हैं। जो भावसंयमी होते हैं, वे कषायों के अधीन नहीं रहते। श्रमण समभावी होते है,–'सम मणइ तेण सो समणो'। कहा भी है–

उपसमतवभावजुदो णाणी सो भावसंजदो होई।
णाणी कसायवसगो असंजदो होइ सो ताव ॥ –रयणसार, ६०

इसी प्रकार "सम्मं" शब्द का प्रयोग भी "रयणसार" और "अष्टपाहुड" मे समान रूप मे अपने ठीक अर्थ में मिलता है। यथा—

दंसणणाणावरणं मोहणियं अंतराइय कम्म।
णिट्ठवइ भवियजीवो सम्म जिणभावणाजुत्तो ॥
–भावपाहुड, १४९

तथा– सुदणाणब्भासं जो ण कुणइ सम्मं ण होइ तवयरणं।
कुव्वतो मूढमई संसारसुहाणुरत्तो सो ॥ –रयणसार, ८५

इसी प्रकार सम्मत्तगुण, सम्माइट्ठी, सावय आदि का वर्णन अष्टपाहुड की भाँति किया गया है। कही-कही समान भाव है और कहीं-कही पूरक वचन हैं। अतएव ग्रन्थ की अन्तरंग परीक्षा मे निश्चित होता है कि यह आचार्य कुन्दकुन्द की ही रचना है। "मोक्षपाहुड" में भी रत्नत्रय का वर्णन किया गया है—

जो रयणत्तयजुतो कुणइ तवं संजदो ससत्तीए।
सो पावइ परमपयं झायंतो अप्पय सुद्धं ॥ –मोक्षपा., ४३

अष्टपाहुड में भी व्यवहार और परमार्थ (निश्चय) दोनो दृष्टियो मे वर्णन किया गया है। अतएव कहा है—

तच्चरुई सम्मत्तं तच्चग्गहणं च हवइस ण्णाणं।
चारित्तं परिहारो य जंपिय जिणवरिंदेहिं ॥ –मोक्षपा., ३८

मोक्षपाहुड और रयणसार दोनों ही रचनाओं में सम्यग्दर्शन को प्रधान तथा वीतराग मुनि धर्म को श्रेष्ठ कहा गया है। सम्यग्दर्शन के उपदेश का सार यही है कि यह श्रावक और मुनियों दोनों के लिये समान रूप से हितकारी है। ज्ञानी स्वसंवेद्य परिणति में लीन होकर बहिर्मुखी प्रवृत्तियों मे हट जाता है और वीतराग मुनिधर्म (वीतराग चारित्र) को मानने लगता है। आ. कुन्दकुन्द के ही शब्दों में—

णियसुद्धप्पणुरत्तो बहिरप्पावत्थवज्जिओ णाणी।
जिणमुणिधम्मं मण्णइ गयदुक्खो होइ सद्दिट्ठी ॥ रयणसार, ६

सम्यग्दर्शन की व्याख्या इन रचनाओं मे कई प्रकार से की गई है। उदाहरण के लिये सार रूप वचन इस प्रकार हैं —

(१) तत्त्व में रुचि होना अथवा सात तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

(२) सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है।

(३) जीवादि सात तत्त्वों का श्रद्धान करना व्यवहार सम्यक्त्व है और अपनी आत्मा का श्रद्धान करना निश्चय सम्यक्त्व है।

(४) आत्मा का दर्शन करना सम्यग्दर्शन है।

(५) जिनदेव का श्रद्धान करना और सम्यक्त्व के आठों अंगों का पालन करना सम्यग्दर्शन है।

(६) **सर्वज्ञ की वाणी** पर श्रद्धा रखना और उनके वचनों को ज्यो का त्यों कहना सम्यग्दर्शन है।

यथार्थ में सम्यक्त्व श्रद्धान का विषय है। बिना जीवादि सात तत्त्वो की प्रतीति के सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता है। यही भाव अनेक प्रकार से प्रसंगत. वर्णित किया गया है। इस प्रकार यदि "अष्टपाहुड" आचार्य कुन्दकुन्द की रचना है, तो "रयणसार" भी उनकी ही रचना है। भाषा और विषय की दृष्टि से इन रचनाओ मे बहुत कुछ साम्य लक्षित होता है। अतएव रचना की अन्तरंग परीक्षा से भी स्पष्ट है कि यह एक प्रामाणिक रचना है।

आगम-परम्परा के संवाहक : आचार्य कुन्दकुन्द

जहाँ तक जिन-सिद्धान्त और अनेकान्त-दर्शन का सम्बन्ध है, आचार्य कुन्दकुन्द ने अपनी ओर से कुछ भी नही कहा। उन्होंने वही कहा जो आगम-परम्परा से प्रचलित था। श्रुत-केवली के वचनों के अनुसार ही आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार, नियमसार और रयणसार आदि की रचना की। उनके ही वचन प्रमाण हैं—

> वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं। —समयसार, १
>
> वोच्छामि णियमसारं केवलिसुदकेवलीभणिद। —नियमसार, १
>
> पुव्वं जिणेहिं भणियं जहट्ठियं गणहरेंहि वित्थरियं
>
> पुव्वाइरियकमेण जो बोल्लइ सो हु सद्दिट्ठी ॥ —रयणसार, २

निर्मल आत्मा के शुद्ध स्वरूप के साक्ष्य का स्वसंवेदनज्ञान के रूप में वर्णन करते हुए आचार्य ने स्पष्ट कहा कि शुद्धात्मा का वर्णन मैं बतला सकूं तो उसे स्वीकार कर लेना और यदि उसमे कहीं चूक जाऊँ, तो छल ग्रहण नही करना। उनके ही शब्दों मे—

> तं एयत्तविभत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।
>
> जदि दाएज्ज पमाणं चुकिज्ज छलं घेत्तव्वं ॥ —समयसार, ५

जिन्होंने शुद्ध चैतन्य स्वभाव में वर्तन किया है और जो प्रमत्त तथा अप्रमत्त दोनों अवस्थाओं से ऊपर उठकर परमहंस दशा को भी पार कर चुके हैं, ऐसे परमात्मा ने जो कहा है, वही कहा जाता है। शुद्ध आत्मा की अनुभूति का वर्णन वास्तव में शब्दों में नही किया जा सकता। परमानन्द या परमात्मा के आनन्द की दशा ऐसी है कि जो जानता है, वह कह नही सकता और जो कहता है, वह वास्तव में जानता नहीं है। फिर, आचार्य, कुन्दकुन्द उसका वर्णन कैसे करते? परमार्थ रूप से अखण्ड आत्मा का वर्णन हो नही सकता, इसलिये व्यवहार का सहारा लेकर उसका वर्णन किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि जिस प्रकार किसी अनाड़ी मनुष्य को उसकी भाषा में बिना बोले उसे समझाया नहीं जा सकता, उसी प्रकार परमार्थ का उपदेश भी बिना व्यवहार के नहीं हो सकता। "समयसार" की भूमिका मे ये ही विचार निबद्ध हैं। निर्मल आत्मा समयसार की प्राप्ति के लिये सभी आगम ग्रन्थों मे एक ही उपाय बताया है और वह है—निर्ग्रन्थ होकर शुद्धोपयोग में लीन रहना। आचार्य कुन्दकुन्द के शब्द हैं—

> णिग्गंथमोहमुक्का बावीसपरीसहा जियकसाया।
>
> पावारंभविमुक्का ते गहिया मोक्खमग्गम्मि ॥
>
> —मोक्षपाहुड, ८०

यही भाव इन शब्दों में भी व्यक्त किया गया है—

बहिरब्भंतरगंथविमुक्को सुद्धोवजोयसंजुत्तो ।
मूलुत्तरगुणपुण्णो सिवगइपहणायगो होइ ।। –रयणसार, १३२

दार्शनिक चिन्तन

आचार्य कुन्दकुन्द के दार्शनिक चिन्तन में स्पष्ट रूप से अनेकान्त का पुट परिलक्षित होता है। अनेकान्त जैनागम की मूल दृष्टि है. जो जिनमत में प्रवेश करना चाहता है. उसे व्यवहार और निश्चय नय (दृष्टि) को नही छोड़ना चाहिये, क्योंकि व्यवहार के बिना तीर्थ (लौकिक रीति) का क्षय हो जाएगा और परमार्थ (निश्चय) के बिना तत्त्व (वस्तु-स्वरूप) नष्ट हो जाएगा। कहा है—

जइ जिणमयं पवज्जह तो मा ववहारणिच्छए मुयह ।
एगेण विणा छिज्जइ तित्थ अण्णेण पुण तच्चं ।।
–जयधवल अनगार धर्मामृत टीका

व्यवहार और निश्चय में परस्पर कोई विरोध नही है। जिस प्रकार स्वर्णपाषाण (जिस पत्थर में से सोना निकलता हो) व्यवहार मे स्वर्ण का साधन है उसी प्रकार से व्यवहार नय निश्चय या परमार्थ को समझने का साधन है, । जहाँ आचार्य कुन्दकुन्द व्यवहार और निश्चयनय को एक-दूसरे का पूरक तथा आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त करने के लिये आवश्यक मानते हैं, वहीं नय के विकल्पो को शुद्ध जीव का स्वरूप नही मानते। उनका कथन है कि शुद्ध आत्मा व्यवहार और निश्चय इन दोनो पक्षो मे दूर है। जीवात्मा में कर्म चिपके हुए है, यह व्यावहारिक पक्ष है और आत्मा कर्मों से बंधी हुई नही है, यह परमार्थ पक्ष है। परन्तु निर्मल आत्मा इन दोनो पक्षो से परे है। इसी को स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने कहा है कि जो व्यवहार और निश्चय को भलीभाँति जान कर मध्यस्थ होता है, वही परमतत्त्व को प्राप्त करता है। वस्तुत. यह आचार्य कुन्दकुन्द की अनेकान्त-दृष्टि है। इस दार्शनिक चिन्तना के अनुसार किसी एक द्रव्य का सात प्रकार (सप्तभंग) से कथन किया जाता है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो ही आगम-परम्परा मे "सिया अत्थि, सिया णत्थि" आदि शब्दों के द्वारा द्रव्य के वास्तविक स्वरूप का निर्वचन किया जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दो मे—

सिय अत्थि णत्थि उहय अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं ।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि ।। –पचास्तिकाय, १४

जिस प्रकार उपनिषदों मे परमतत्त्व को 'नेति नेति' कह कर मन, बुद्धि, इन्द्रिय और वाणी के अगोचर बताया गया है, उसी प्रकार से स्याद्वाद की भाषा मे प्रत्येक द्रव्य अपने मूल रूप में "अवक्तव्य" है। वाणी के द्वारा हम उसे ठीक-ठीक प्रकट नहीं कर सकते।

तात्त्विक विवेचन में मौलिकता

"आचार्य कुन्दकुन्द के प्राकृत-वाङमय की भारतीय संस्कृति को देन" शीर्षक निबन्ध मे डॉ दरबारीलाल कोठिया ने लिखा है कि आ कुन्दकुन्द के प्राकृत-वाङमय का बहुभाग तात्त्विक निरूपणपरक ही है, जो मौलिक है। समयसार और नियमसार में जो शुद्धात्मा का विशद विवेचन उपलब्ध है. वह अन्यत्र दुर्लभ है। मोक्षपाहुड (गा. ४-७) मे आत्मा के बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन तीन

भेदों तथा उनके स्वरूप का प्रतिपादन भी अद्वितीय है। नियमसार (गा. १५९) में व्यवहार नय से आत्मा को सर्वज्ञ और निश्चयनय से आत्मज्ञ निरूपित करना कुन्दकुन्द का अपना एक नया विचार है। इसी ग्रन्थ (गा. १६०) में ज्ञान और दर्शन के यौगपद्य का सर्वप्रथम समर्थन मिलता है। पुद्गल के दो तथा छह भेदों का निरूपण (गा २०-२४), परमाणु का स्वरूप-कथन (नियमसार, २६), कर्मभूमिज और भोगभूमिज ये मनुष्यों के दो भेद (नियम १६) इसी मे उपलब्ध है। अध्यात्म-विवेचन मे आ कुन्दकुन्द ने जो निश्चय और व्यवहार नयों का अवलम्बन लिया है, वह भी उनके प्राकृत-वाङमय की अपूर्व विचारणा है। इन नयों की प्ररूपणा हमें इससे पहले के साहित्य में नही मिलती। कुन्दकुन्द की यह दृष्टि उत्तरकालीन ग्रन्थकारों के द्वारा आदृत एव पुष्ट हुई है और इसी कारण उन्हें सर्वाधिक सम्मान मिला और मूलसघ के नायक घोषित किये गये। मेरा अपना विचार है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने जिन-शासन के मार्ग-दर्शक के रूप मे व्यवहार और परमार्थ के अतिरिक्त गृहस्थ और संन्यास-जीवन का जो स्पष्ट तथा विशद विवेचन किया और यह बताया कि श्रावकधर्म के बिना मुनिधर्म का पालन नही हो सकता, इस व्याख्या के कारण उन्हे मूलसंघ का नायक बनाया गया। क्योकि उनके समय में लोग यह समझने लगे थे कि जैनधर्म नितान्त निवृत्तिमार्गी है। श्री दलसुख मालवणिया ने "आचारांग का श्रमण-मार्ग" परिभाषित करते हुए लिखा है—"ब्राह्मण से श्रमण का मुख्य व्यावर्तक लक्षण है—गृहस्थी का त्याग कर त्यागी बन जाना। श्रमणों के मार्ग मे गृहस्थ-धर्म का त्याग करना अत्यन्त आवश्यक समझा गया है। संभवतः श्रमणमार्ग मे उसके प्राचीन रूप में गृहस्थ वर्ग का कोई स्थान ही नहीं था।" परन्तु आचार्य कुन्दकुन्द के प्रतिपादन से यह मेल नहीं खाता है। इसलिये उन्होंने श्रावक और मुनिधर्म दोनों का एक साथ व्यवहार और परमार्थ दोनों रूपो में वर्णन किया है। यद्यपि सम्पूर्ण जैन वाङमय में मोक्षमार्ग के लिए मुनि बनने की आवश्यकता का कथन किया गया है और बताया है कि मोक्ष की प्राप्ति मुनिधर्म के सम्यक् पालन से ही सम्भव है, परन्तु श्रावकधर्म की उपेक्षा नहीं की गई है; बल्कि यह कहा गया है—

> वदसमिदिगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहि पण्णत्तं।
> कुव्वंतोवि अभव्वो अण्णाणी मिच्छादिट्ठी दु ॥ —समयसार, २९२

जिन-वाणी कहती है कि घर-द्वार छोड़ देने मात्र से कोई ज्ञानी नहीं बन जाता? व्रत, समिति, मन-वाणी और शरीर का संयम, ब्रह्मचर्य और तप का आचरण करता हुआ भी अभव्य जीव अज्ञानी तथा मूढ़ बना रहता है। इसी प्रकार सम्यक्त्व की विशुद्धि के बिना समस्त तत्त्वों को जान लेने से भी क्या? अनेक तप आदि क्रियाएँ भी शुद्ध सम्यग्दर्शन के बिना ससार की जनक है। कहा है—

> किं जाणिऊण सयलं तच्चं किच्चा तवं च किं बहुलं।
> सम्मविसोहिविहीण णाणतवं जाण भवबीयं ॥ —रयणसार, ११०

इसी प्रकार से वनवास करना, काया को कष्ट देकर उपवास करना, अध्ययन, मौन, आदि समतारहित श्रमण के कार्य निष्फल हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों में—

किं काहदि वणवासो कायकलेसो विचित्तउववासो ।
अज्झयणमौणपहुदी समदारहियस्स ममणस्स ।। —नियममार, १२४

श्री योगीन्द्रदेव भी यही कहते है । यथा——

गिरिगहनगुहाद्यारण्यशून्यप्रदेश–
स्थितिकरणनिरोधध्यानतीर्थोपसेवा ।
प्रपठनजपहोमैर्ब्रह्मणो नास्ति सिद्धिः ।
मृगय तदपरं त्वं भोः प्रकारं गुरुभ्यः ।।
दंसणरहिय जि तउ करहिं ताहं णिप्फल विणिट्ठ ।

——सावयधम्मदोहा, ५५

जिसके चित्त में ज्ञान का स्फुरण नहीं हुआ, ऐसा मुनि सम्पूर्ण शास्त्रों को जानता हुआ भी कर्मों का साधन करता हुआ सुख प्राप्त नही करता । मुनि रामसिंह के शब्दों में——

जसु मणि णाणु ण विप्फुरइ कम्महं हेउ करंतु ।
सो मुणि पावइ सुक्खु ण वि सयलइं सत्थ मुणंतु ।।

—पाहुडदोहा, २४

श्रावकधर्म के सम्बन्ध में जैन आचार्यों की दृष्टि व्यापक एवं उदार रही है । जो इस धर्म का आचरण करता है और मद्य-मांसादि का सेवन नही करता, वह ब्राह्मण, शूद्र, चाहे जो हो, वही श्रावक है । कहा भी है——

एहु धम्मु जो आयरइ बंभणु सुद्दु वि कोइ ।
सो सावउ किं सावयहं अण्णु कि सिरि मणि होइ ।।
मज्जु मंसु महु परिहरइ संपइ सावउ सोइ ।

—सावयधम्मदोहा ७६-७७

आचार्य कुन्दकुन्द ने यह भी बताया कि जैन लोग निरपेक्ष रूप से गृहस्थ और मुनिधर्म में स्थित हो करुणा भाव से दूसरों का उपकार करते हैं। उनके ही शब्दों में——

जेण्णाणं णिरवेक्खं सागारणगारचरियजुत्ताणं ।
अणुकम्पयोवयारं कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो ।।

—प्रवचनसार, २५१

द्रव्य का विवेचन

द्रव्य का लक्षण सत् है । सत् या भाव का कभी विनाश नही होता । अभाव या असत् कभी उत्पन्न नही होता । भावों के केवल गुण और पर्यायों में रूपान्तरण होता रहता है । हमें पदार्थ में जो भी परिवर्तन लक्षित होता है, वह उसका परिवर्तनशील बाह्य रूप है । उसके आन्तरिक मूल रूप मे कभी भी परिवर्तन नही होता । कहा है——

भावस्स णत्थि णासो अभावस्स चेव उप्पादो ।
गुणपज्जयेसु भावा उप्पादवए पकुव्वंति ।। —पंचास्तिकाय, १५

आचार्य कुन्दकुन्द ने यहाँ पर बताया है कि भाव (सत्) का विनाश और अभाव (असत्) की उत्पत्ति नही होती । यही भाव हमें गीता मे भी मिलता है । यथा——

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टान्तोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ।।

—श्रीमद्भगवद्गीता, २१६

इस प्रकार द्रव्य (आत्मा) की दृष्टि से सत् का विनाश और असत् की उत्पत्ति नहीं होती। फिर, व्यवहार मे जो यह कहा जाता है कि देव आकर जन्म लेता है, मनुष्य मर रहा है, यह सब जीवों के गतिनाम कर्म के समय-सूचना की दृष्टि से कहा जाता है कि यह मनुष्य (जीव) इतने समय तक इस गति मे, शरीर में निवास करता रहा.अब उसे छोड़कर जा रहा है। कहा है–

एवं सदो विणासो असदो जीवस्स णत्थि उप्पादो।
तावदिओ जीवाणं देवो मणुसो त्ति गदिणामो ।। –पचा, १९

द्रव्य का अर्थ है–जिसमें गुण और पर्यायें व्याप्त रहती हैं। द्रव्य न तो पर्यायों से वियुक्त है और न गुणो से। इसलिये गुण और पर्यायों के परिवर्तन से अथवा उत्पत्ति और विनाश से द्रव्य की उत्पत्ति और विनाश माना जाता है। यथार्थ में द्रव्य के मूल रूप मे कोई उत्पत्ति या विनाश नही होता। परमार्थ से द्रव्य शाश्वत एवं नित्य है और व्यवहार से परिवर्तनशील है। दूसरे शब्दो में, द्रव्य मे रूपान्तरण या विकार नही होता. पर उसके गुणो और पर्यायो में अर्थान्तरण या परिवर्तन होता रहता है। द्रव्य का यह विवेचन नय-प्रमाण एव अनेकान्त पर आधारित है। इसीलिये समयसार में कहा गया है—

दोण्हवि णयाण भणिय जाणइ णवरि तु समयपडिबद्धो।
ण दु णयपक्ख गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो ।।

–समयसार, १४३

निर्मल आत्मा की अनुभूति करने वाला दोनों नयों के कथन को जानता अवश्य है, पर किसी एक नय के पक्ष को स्वीकार नहीं करता। वह दोनों को सापेक्ष रूप से मानता है और पक्षपात से दूर रहता है। आचार्य सिद्धसेन ने भी यही कहा है कि जो अपने पक्ष का आग्रह करते हैं, वे सभी नय-दुर्नय या मिथ्या-दृष्टि हैं। नय सापेक्ष हैं और अन्योन्याश्रित हैं। कहा भी है—

तम्हा सव्वे वि णया मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा।
अण्णोण्णणिस्सिया उण हवंति सम्मत्त मब्भावा ।।

—सन्मतितर्क, १, २१

शब्द: पुद्गल

शब्द पुद्गल की पर्याय है। पुद्गल रूपान्तरित होता रहता है। रूपान्तरण (Modification) की क्रिया के कारण पुद्गल रूपवान कहा जाता है। यहाँ रूप का अर्थ पदार्थ और ऊर्जा (Matter and Energy) है। शब्द एक पुद्गल-स्कन्ध के साथ दूसरे स्कन्ध के टकराने से ध्वनि रूप में उत्पन्न होता है, जो श्रवणेन्द्रिय के द्वारा ग्रहण किया जाता है। स्कन्ध स्वयं अशब्द है। आचार्य कुन्दकुन्द की वाणी है—

सद्दो खंधप्पभवो खंधो परमाणुसंगसंघादो ।
पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादिगो णियदो ।।

—पंचास्तिकाय, ७९

विज्ञान के अनुसार भी पदार्थ के प्रकम्पन से शब्द उत्पन्न होता है; परन्तु पदार्थ स्वयं अशब्द है। अणु-परमाणु से कभी शब्द उत्पन्न नहीं होता। परमाणु (Atom) तो प्रत्येक क्षण स्कन्धों (Molecular) में प्रक-

म्पित होते रहते हैं। इस प्रकार स्कन्धों के संघर्षण से शब्द उत्पन्न होता है। लगभग दो हजार वर्षों के पूर्व आचार्य कुन्दकुन्द ने जो यह दार्शनिक एवं तात्त्विक विचार आगमानुकूल विवेचित किया था, वह आज भी विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरता है। इसी प्रकार शब्द ध्वन्यात्मक तो होते हैं, पर सभी शब्द भाषात्मक नही होते। इसलिये भाषा का निर्माण केवल भाषिक काल में ही होता है। भौतिक विज्ञान के अनुसार ध्वनि के तरंगित एवं गतिशील होने मे किसी न किसी माध्यम की आवश्यकता पड़ती है। इन पुद्गलो के स्कन्धों की यह विशेषता है कि वे ध्वनियों को रोक कर अपने में समाहित कर रखते हैं, भेजते है और धर्मद्रव्य की सहायता से गतिशील बनाते है। इसका विस्तृत विवेचन जैन आगम ग्रन्थों में वर्णित है, जिसमें यह कहा गया है कि पुद्गल मे अनन्त शक्ति है। उसमें संकोच और विस्तार भी होता है। उसे खण्ड-खण्ड कर जोड़ा भी जा सकता है और जो भी सम्भव प्रक्रियाएँ है, उन सब के द्वारा उसका रूपान्तरण किया जा सकता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्ट रूप मे इन्द्रियों के द्वारा उपभोग्य विषय, इन्द्रियाँ, शरीर, मन, कर्म और अन्य जो कुछ मूर्त है, सभी को पुद्गल बताया है (पंचा ८२)। पुद्गल के उन्होंने चार भेदों का विवेचन किया है—स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश और परमाणु (पंचा ७५)। स्कन्ध के भी छह भेद कहे गये हैं—पृथ्वी, जल, छाया, नेत्र के अतिरिक्त इन्द्रियों के विषयो को ग्रहण करने वाले, कर्मयोग्य और कर्म-अयोग्य स्कन्ध। (नियमसार, २०)

इन सब का वर्णन भौतिक विज्ञान के फलित निष्कर्षों के रूप मे किया गया है और बताया गया है कि आत्मा अनादिकाल से राग-द्वेष आदि कर्म-रज से उत्थित पुद्गल कर्म-वर्गणाओं से संश्लिष्ट होकर जन्म-मरण के अनेक दुःखों को भोग रहा है। आत्मा से कर्म-रज की चिपकन को ही बन्ध की संज्ञा दी गई है। बन्ध संसार का कारण है और बन्ध की मुक्ति अखण्ड आनन्द की साधिका है। यह जीवात्मा जब राग-द्वेष के सयोग से शुभ-अशुभ भावों में परिणमन करता है, तब कर्म-रज नाना नाम-रूपों में कर्म मे प्रवेश करती है। कहा भी है—

> परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोसजुदो।
> त पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहि ।। –प्र० सा०, १८७

उक्त वैज्ञानिक मान्यता का प्रतिपादन कर चुकने पर "रयणसार" में कर्मों की बीमारी को दूर करने का उपाय बताते हुए कहते है कि सब से पहले मिथ्यात्व रूपी मल की शुद्धि करने हेतु सम्यक्त्व रूपी औषध का सेवन करो। एक सुविज्ञ वैद्य जब तक पुराने रोगी का मल-शोधन नही करता, तब तक उसे दवा लाभ नही पहुँचाती। यहाँ पर भी आचार्य कुन्दकुन्द एक पूर्ण आध्यात्मिक वैज्ञानिक की भाँति कहते हैं कि जब तक पहले की गन्दगी, कर्मों का कचरा साफ नही करते, तब तक आत्मा मे शुद्धि नही आ सकती। आत्मा की शुद्धि के बिना—गन्दे बरतन मे आप अमृत कैसे धारण कर सकते है? आत्मा की शुद्धि होने पर ही धर्म (परमार्थ रूप से वास्तविक) धारण किया जा सकता है। धर्म आत्मा के शुद्ध समभाव का नाम है और वही निश्चय मे चारित्र है। उनके ही शब्दों में—

> पुव्व सेवइ मिच्छामलसोहणहेउ सम्मभेसज्जं।
> पच्छा सेवइ कम्मामयणासणचरियभेसज्जं ।। –रयणसार, ६२

इसी प्रकार से—

रायाइमलजुदाण णियप्परूवं ण दीसए कि पि ।
समलादरिसे रूवं ण दीसए जह तहा णेयं ।। —रयणसार, ९०

जैसे धुंधले दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब स्पष्ट नहीं दिखलाई पड़ता, वैसे ही रागादिक मिथ्यात्व-मल से मलिन रहते हुए आत्मा का शुद्ध स्वरूप अनुभव और ज्ञान में नहीं आता ।

ज्ञान की सर्वश्रेष्ठता का प्रतिपादन

आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओं का सार है—शुद्ध आत्म-ज्ञान की प्राप्ति। वे कहते हैं कि ज्ञान से ध्यान की सिद्धि होती है, ध्यान से सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा होती है और निर्जरा का फल मुक्ति है। इसलिये मुक्ति प्राप्त करने के लिये ज्ञानाभ्यास करना चाहिये। यथा—

णाणेण झाणसिज्झी झाणादो सव्वकम्मणिज्जरणं ।
णिज्जरणफलं मोक्खं णाणब्भासं तदो कुज्जा ।। —रयणसार, १३८

आत्मज्ञान, ध्यान और अध्ययन से उत्पन्न होने वाला सुख अमृत के समान है। कहा भी है—

अप्पणियणाण-झाणज्झयण सुहामयरसायणप्पाणं ।
मोत्तूणक्खाणसुहं जो भुंजइ सो हु बहिरप्पा ।। रयणसार, ११६

ज्ञान मनुष्य जीवन का सार है। जिससे तत्त्व-ज्ञान होता है, जिससे चित्त का व्यापार रुक जाता है और जिससे आत्मा विशुद्ध होती है, उसे जिनशासन में ज्ञान कहा गया है। स्वयं उनके ही शब्दों में—

जेण तच्चं विबुज्झेइ जेण चित्तं णिरुज्झदि ।
जेण अत्ता विसुज्झेइ तं णाणं जिणसासणे ।। —मूलाचार, २६७

"रयणसार" का संक्षिप्त सार यही है कि इसमें सम्यक्त्व, ज्ञान, वैराग्य और तप का वर्णन किया गया है, जो आत्मा के वास्तविक स्वभाव को प्रकट करने वाले हैं। कहा है—

सम्मत्तणाण वेरग्गतवोभावं णिरीहवित्तिचारित्तम्स ।
गुणसीलसहावं उप्पज्जइ रयणसारमिण ।। —रयणसार, १५२

निरपेक्ष वृत्तियों का कोई महत्त्व नहीं है। क्योंकि तप से रहित ज्ञान और ज्ञान से रहित तप व्यर्थ है। ज्ञान और तप से युक्त मनुष्य ही मुक्ति को प्राप्त करता है। कहा भी है—

तवरहियं ज णाणं णाणविजुत्तो तवो वि अकयत्थो ।
तम्हा णाणतवेणं संजुत्तो लहइ णिव्वाणं ।। —मोक्षपाहुड, ५९

आचार्य कुन्दकुन्द ने ज्ञान से आत्मा को भिन्न नहीं माना है। इसलिये उनका कथन है कि जो जानता है, सो ज्ञान है। जानने वाला जीवात्मा है। ज्ञान आत्मा में रहता है। आत्मा से भिन्न अन्यत्र ज्ञान का अस्तित्व नहीं है। अतएव जीव ज्ञान है। उनके ही शब्दों में—

तथा— जो जाणदि सो णाणं ण हवदि णाणेण जाणगो आदा ।
तम्हा णाणं जीवो णेयं दव्वं तिहा समक्खादं ।।
—प्रवचनसार, ३५-३६

धर्म का स्वरूप

धर्म विषयक मान्यता के सम्बन्ध में आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि बहुत गहरी और सुलझी हुई लक्षित होती है। उन्होने स्पष्ट शब्दो मे चारित्र को धर्म उद्घोषित किया है। चारित्र का तीनों स्तरो पर उनका विवेचन अपूर्व है। यह सभी जानते है कि व्यवहार मे सदाचार धर्म है। यदि व्यक्ति सदाचारी न हो, सब दुराचारी हो, तो समाज का टिकना कठिन ही नहीं, असम्भव हो जाएगा। समाज की रक्षा के लिये शील या सदाचार अमोघ अस्त्र के समान है। धर्म प्राणी मात्र को जीना सिखाता है। श्रावक का जीवन धर्म को सुनने वाले और सुनकर उसे अपने जीवन मे उतारने वाले लोगों का जीवन है। आरामतलबी और ऐयाशी का जीवन कभी श्रावक का जीवन नही हो सकता। क्योकि श्रावक 'श्रमण' की तैयारी का जीवन है। श्रावक का आदर्श श्रमण का जीवन है। इसका यह अर्थ नहीं है कि दुनिया के सब लोग घर-द्वार छोड़कर साधु हो जाएँ। वास्तव मे विषय-कषायो को घटाना ही श्रमण तथा श्रावक का लक्ष्य है। 'श्रमण' श्रम के उपासक कहे गये हैं। वे दुर्धर तप करते है। श्रावक को भी परिश्रमी तथा कर्मनिष्ठ होना चाहिये। यदि मनुष्य ईमानदार और मेहनती नहीं है, तो वह श्रावक का बाना भले ही धारण कर ले, पर श्रावक नही हो सकता। साधु के वेश को धारण कर लेने पर भी जो पाप से लिप्त रहते है, वे दुर्गति को प्राप्त करने है। आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों मे—

> जे पावमोहियमई लिंग घेत्तूण जिणवरिंदाणं।
> पावं कुणंति पावा ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ॥ —मोक्षपाहुड, ७८

इस प्रकार के मिथ्या आचरण करने वाले वास्तविक साधु नही होते। क्योकि वे न तो निर्मल आत्मा के दर्शन करते हैं, न अपने को देखते हैं, न जानते है और न अपनी आत्मा का श्रद्धान करते हैं, इसलिए वे केवल साधु-वेश को बोझ की तरह धारण करते हैं। कहा है—

> अप्पाणं पिण पिच्छइ ण मुणइ णवि सद्दहइ भावेइ।
> बहुदुक्खभारमूलं लिंग घेत्तूण किं कुणई ॥ —रयणसार, ७७

परन्तु न्याय व ईमानदारी के साथ धन का उपार्जन करता हुआ श्रावक यदि अपनी शक्ति के अनुसार जिन-पूजा, करता है, उत्तम पात्रों को दान देता है और सम्यक्त्व पूर्वक धर्म का पालन करता है, तो उसे धार्मिक व मुक्ति-मार्ग मे लगा हुआ समझना चाहिये। उनके ही शब्दों मे—

> जिणपूया मुणिदाणं करेइ जो देइ सत्तिरूवेण।
> सम्माइट्ठी सावय धम्मी सो होइ मोक्खमग्गरओ ॥ —र०सा०, १२

व्यवहार मे चारित्र धर्म है। दया के बिना कोई धर्म नहीं हो सकता। इसलिए जहाँ दया है, वहाँ धर्म है। विशुद्ध दया या अहिंसा समान अर्थ के प्रकाशक हैं। संसार के सब धर्मों में अहिंसा का महत्त्व बताया गया है। बिना अहिंसा के कोई वास्तविक धर्म नही हो सकता।

निश्चय से समभावी होना चारित्र है। इसके दो स्तर कहे जा सकते है—प्रथम स्तर की भूमिका मे मनुष्य जिस समय जो काम करना चाहता है, उसके साथ ही कषाय यानी क्रोध, मान, माया, लोभ, आदिक परिणामों मे मन्दता होनी चाहिए। द्वितीय भूमिका में शुद्ध आत्मानुभूति की ओर सदा लक्ष्य रखना चाहिए तथा परिणामों की विशुद्धता के साथ मोही-

अज्ञानी जीवों तथा उनकी अशुद्ध व्यावहारिक क्रियाओ को देख कर उनकी उपेक्षा तथा निन्दा नहीं करनी चाहिए। तृतीय भूमिका में आत्मज्ञान हो जाने पर सदा विशुद्ध अखण्ड परमात्मा की स्वसंवेदनात्मक अनुभूति में लीन रहना चाहिये। इनका अलग-अलग विस्तार मे वर्णन आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओ मे मिलता है। वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—

देहादिसु अणुरत्ता विसयासत्ता कसायसंजुत्ता।
अप्पसहावे सुत्ता ते साहू सम्मपरिचत्ता ॥ —रयणसार, ९३

तथा—

द्रव्य रूप से, गुण रूप से और पर्याय रूप से जो जीवात्मा को और शुद्ध निर्मल अपनी आत्मा को जानता है, वह मुक्ति-पथ का नायक होता है। यथा—

दव्वगुणपज्जएहि जाणइ परसमयससमयादिभेद।
अप्पाणं जाणइ सो सिवगइ पहणायगो होइ ॥ —रयणसार, १२७

चारित्र का स्वरूप बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥

—प्रवचनसार, ७

अर्थात् निश्चय से चारित्र धर्म है। ऐसा कहा गया है कि जो साम्य है, वह धर्म है। मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम साम्य है।

"रयणसार" में भी यही कहा गया है कि आत्मा साम्यभाव में उपलब्ध होता है। किन्तु यह जीवात्मा मिथ्याबुद्धि के कारण मोह-मदिरा में उन्मत्त होकर अपने आप को भूल गया है और इसलिए आत्मा के सच्चे स्वरूप को नही पहचान पाता है। कहा है—

मिच्छामइमयमोहासवमत्तो बोलए जहा भुल्लो।
तेण ण जाणइ अप्पा अप्पाणं सम्मभावाणं ॥ —रयणसार, ४७

ज्ञानी अपनी शुद्ध आत्मा में सदा लीन रहता है। यथा—

णिय सुद्धप्पणुरत्तो बहिरप्पावत्थवज्जिओ णाणी। —र०सा०, ६

लोक-कल्याण की भावना

आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओं मे लोक-कल्याण की भावना स्पष्ट रूप मे परिलक्षित होती है। रचना में प्रवृत्त होने का एक मात्र कारण जनता की भलाई रहा है। वे कहते हैं कि जितने वचनपन्थ हैं, उतने नयवाद हैं और जितने नयवाद है, उतने मत हैं। सभी मत और सम्प्रदाय मानव के लिए है। मानव मत और सम्प्रदाय के पीछे नहीं है। इसलिए किसी भी मत और धर्म के पालन के लिए मनुष्य को रोक-टोक नही होनी चाहिए। मानव अपने गुणो के कारण संसार के सब प्राणियों में श्रेष्ठ है। शरीर वन्दन योग्य नहीं होता, कुल और जाति भी वन्दनीय नहीं होते। गुणहीन श्रमण और श्रावक की कोई वन्दना नहीं करता। उनके ही शब्दों में—

ण वि देहो वंदिज्जइ ण वि य कुलो ण वि य जाइसंजुत्तो।
को वंदइ गुणहीणो ण हु सवणो णेय सावओ होइ ॥

—दंसणपाहुड, २७

अतएव आचार्य कुन्दकुन्द कहते है कि जो मनुष्य दान नही देते, पूजा नहीं करने, शील या सदाचार का पालन नहीं करते और गुणो को धारण नहीं करते, वे चारित्रवान नही होते। दुश्चरित्र लोग मर कर बुरी गतियों मे जाते है, या फिर कुत्सित मनुष्य होते है। कहा भी है—

णहि दाणं णहि पूया णहि सीलं णहि गुण ण चारित्त ।
जे जइणा भणिया ते णरया हुंति कुमाणुसा तिरिया ।।

—रयणसार, ३६

आचार्य कुन्दकुन्द ने विधि-निषेध सम्बन्धी जो भी बातें कही है, वे केवल जैन लोगों के लिए नही हैं, वरन् प्राणी मात्र के लिए समान रूप से हितकारी हैं। इसलिए यह नही समझना चाहिए कि जो जैनधर्म मानता है, वह मिथ्यादृष्टि नहीं है और जो नही मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। वास्तव में यह हमारा भ्रम है। आचार्य कुन्दकुन्द ने मिथ्याबुद्धि वाले मनुष्य को जो योग्य-अयोग्य, नित्य-अनित्य, हेय-उपादेय, सत्य-असत्य, भव्य-अभव्य को अर्थात् अच्छे-बुरे को नहीं जानता, उसे भी मिथ्यादृष्टि कहा है। यथा—

णवि जाणइ जोग्गमजोग्ग णिच्चमणिच्च हेयमुवादेयं ।
सच्चमसच्च भव्वमभव्वं सो सम्मउम्मुक्को ।। —रयणसार, ३८

मूढ़ प्राणी अपने मोह को नही छोड़ता। इसलिए वह अनेक तरह के दारुण कर्मों को करता हुआ संसार में भटकता रहता है, ससार का पार नहीं पाता। इस प्रकार वह अनेक दुःखों को भोगता है। कहा है—

मोह ण छिज्जइ अप्पा दारुणकम्मं करेइ बहुवारं ।
णहु पावइ भवतीरं किं बहुदुक्ख वहेइ मूढमई ।।

—रयणसार, परिशिष्ट, ९

आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्ट रूप से गृहस्थ और साधु दोनों के लिए मिथ्या-बुद्धि एवं अन्धविश्वास त्याग करने का उपदेश दिया है। उनका कथन है कि हम कही भी और किसी भी अवस्था मे हों, जब तक दृष्टि नही पलटती है, तब तक सच्चा आत्मविश्वास, आत्मज्ञान और आत्म-चारित्र प्रकट नहीं होता है। कहा है—

सम्मविणा सण्णाणं सच्चारित्त ण होइ णियमेण ।
तो रयणत्तयमज्झे सम्मगुणक्किट्ठमिदि जिणुद्दिट्ठं ।।र०सा०, ४३

आगम-दृष्टि से ही आत्मदृष्टि उपलब्ध होती है। सम्यक्त्व की प्राप्ति में आगम-दृष्टि निमित्त है। सम्यग्दृष्टि ही आगम और जिनवाणी को भली-भाँति समझते है। इस दृष्टि के बिना उनकी मान्यता अन्धविश्वास ही कही जाती है। कहा भी है —

देवगुरुधम्मगुणचारित्तं तवायारमोक्खगइभेयं ।
जिणवयणसुदिट्ठिविणा दीसइ किह जाणए सम्मं ।। र०सा०, ४५

जिनकी दृष्टि बहिर्मुखी है और जो लोक-रंजन मे लगे हुए हैं, वे सम्यक्त्व से रहित हैं। सम्यग्दृष्टि सांसारिक कार्यों मे आसक्त नही होते। उनकी प्रवृत्ति अन्तर्मुखी होती है। वे विषय-कषायों तथा संग्रहवृत्ति से उदासीन रहते है। इसलिए वे "लोयववहारपउरा" नहीं होते—

जे पावारंभरया कसायजुत्ता परिग्गहासत्ता ।
लोयववहारपउरा ते साहू सम्मउम्मुक्का ।। र० सा०, ९७

अन्य ग्रन्थों में उल्लिखित 'रयणसार' के सन्दर्भ

न तो "रयणसार" की कोई प्राचीन संस्कृत टीका मिलती है और न सतरहवी शताब्दी के पूर्व के ग्रन्थों में कोई उद्धरण ही मिलते हैं। पं.

भूधरदास जी के "चर्चा समाधान" मे निर्माल्य के प्रसग मे "रयणसार" का उल्लेख मिलता है। उसमें पृ ७६ पर गाथा स ३२, ३३, ३५ और ३६ इन चारो के उद्धरण के साथ लिखा हुआ मिलता है–"दूजे देवधन के ग्रहण का फल कुन्दकुन्दाचार्यकृत रयणसारविषे कह्या है। तथाहि, गाथा—"

इसी प्रकार से प दौलतराम कृत "क्रियाकोष" मे पृ. ८ पर 'रयणसार' की गाथा उद्धृत कर श्रावक की त्रेपन क्रियाओ का उल्लेख किया गया है। पं. सदासुखदासजी ने "रत्नकरण्डश्रावकाचार" की वचनिका मे लिखा है—"कुन्दकुन्दस्वामी समयसार, प्रवचनसार. पचास्तिकाय. रयणसार, अष्टपाहुडकू आदि लेय अनेक ग्रन्थ रचे ते अवार प्रत्यक्ष वाचने, पढ़ने मे आवै हैं।" (पचम अधिकार, पृ. २३६)

स्व. मुनिश्री ज्ञानसागरजी महाराज ने 'समयसार' की प्रस्तावना के अन्तर्गत लिखा है–तथापि 'रयणसार' की निम्न (१३१, १३२) गाथाओ द्वारा श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने यह स्पष्ट कर दिया है कि परमात्मा (अर्हत और सिद्ध) तो स्वसमय है और क्षीणमोह गुणस्थान तक जीव 'परसमय' है। इससे स्पष्ट है कि असयत सम्यग्दृष्टि 'स्वसमय' नही है, परसमय है।"

पाठ-सम्पादन-पद्धति

अभी तक "रयणसार" के प्रकाशित पाठों मे दो तरह के पाठ मिलते हैं। एक पाठ के अनुसार इस ग्रन्थ की पद्य-संख्या १६७ है और दूसरे के अनुसार १५५ है। माणिकचन्द-ग्रन्थमाला से प्रकाशित "षट्प्राभृतादि-सग्रह" मे प्रथम पाठ देखने को मिलता है। दूसरा पाठ मुख्य रूप से १९०७ मे प्रकाशित प कलापा भरमापा के मराठी अनुवाद वाले संस्करण मे मिलता है। इनके अतिरिक्त कन्नड़ मे टी. बी. नागप्पा के द्वारा सम्पादित तथा चामराजनगर से प्रकाशित संस्करण में १६५ गाथाएँ मिलती हैं। कन्नड़ के इस ग्रन्थ में प्रकाशित १६७ गाथाओ में से आठवीं और १५४वी गाथाएँ लक्षित नहीं होती। सन् १९४२ मे मैसूर से प्रकाशित श्री ब्रह्मसूरि शास्त्री के द्वारा सम्पादित इस ग्रन्थ मे पद्य-संख्या १६७ ही है। यह हिन्दी अनुवाद सहित है और साथ में पद्यानुवाद भी दिया गया है। पद्यानुवाद किसी पुराने कवि का लिखा हुआ जान पडता है। हिन्दी पद्यानुवाद की एक हस्तलिखित प्रति जयपुर से प्राप्त हुई है। यह दि जैन तेरहपथी बड़ा मन्दिर, जयपुर की वेष्टन सं. १५२३ में पृ. ४५-५६ मे संकलित है। इसमें पद्यानुवाद करने वाले के नाम का उल्लेख नही है। इसमे कुल १५६ पद्य हैं, किन्तु अन्तिम दो प्रशस्ति के है, इसलिए १५४ पद्यों का यह अनुवाद है। इसकी रचना-तिथि वि. सं १७६८ है। कहा भी है—

> कुन्दकुन्दमुनि मूल कवि गाथा प्राकृत कीन।
> ता अनुक्रम भाषा रच्यौ गुन प्रभावना लीन ।।१५५।।
> सतरह सै अठसठि अधिक जेठ सुकुल ससिपूर।
> जे पडित चातुर निरखि दोष करै सब दूर ।।१५६।।

इति श्रीरयणसार ग्रथ यतिश्रावकाचार सपूर्ण समाप्त: ।। शुभ भवतु ।। श्री दि. जैन सरस्वती-भण्डार, धर्मपुरा, नया मन्दिर, दिल्ली में रयणसार की हस्तलिखित चार प्रतियाँ वर्तमान है। इनमे मे एक प्रति में १५४ गाथाएँ मिलती हैं। लगभग इन्ही गाथाओ के आधार पर हिन्दी पद्या-

नुवाद किया गया जान पड़ता है। मूल प्रति और हिन्दी पद्यानुवाद में केवल एक ही गाथा का अन्तर लक्षित होता है। मूल प्रति मे सैंतीसवी गाथा उपलब्ध है, पर हिन्दी पद्यानुवाद में अनुपलब्ध है। इसके विपरीत मूल प्रति में गाथा सं. १०१ नहीं है, पर हिन्दी मे उपलब्ध है। हिन्दी पद्यानुवाद में उसकी सख्या ८८ है। इससे निश्चित रूप से एक पाठ-परम्परा का पता चलता है।

"रयणसार" की कई प्रकाशित तथा हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध होती है। इन सब में अधिकतर १६७ गाथाएँ उपलब्ध होती हैं। वि स. १९७७ में प्रकाशित प पन्नालाल सोनी द्वारा सम्पादित "रयणसार" मे १६७ गाथाएँ मिलती हैं, किन्तु उनका क्रम कुछ भिन्न है। हिन्दी अनुवाद तथा अन्य प्रतियो में भी गाथाओ के क्रम मे कुछ भिन्नता मिलती है। यह भिन्नता ताडपत्रीय प्रतियो मे भी मिलती हैं। इस प्रकार इन ग्रन्थ के सम्पादन की मूल मे दो समस्याएँ लक्षित होती है—गाथाओ की मूल संख्या कितनी है और उनका क्रम क्या है ?

गाथा-प्रक्षेप

ग्रन्थ-सम्पादन के आरम्भ से ही इस बात के बराबर सकेत मिलते रहे हैं कि इसमे कुछ गाथाएँ प्रक्षिप्त हैं। किन्तु कुछ गाथाएँ प्रक्षिप्त हैं, इसके क्या प्रमाण हैं ? हमे इस बात का सब से पहला सकेत तथा प्रमाण "रयणसार" की प्रकाशित पुस्तक की आठवी गाथा में प्राप्त होता है। यह गाथा किसी भी प्राचीन हस्तलिखित प्रति मे तथा ताड़पत्रीय प्रतियों में नहीं है। इसका हिन्दी अनुवाद भी नही मिलता है। गाथाओं की अन्तरंग-परीक्षा से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि इस रचना मे गाथा-प्रक्षेप परवर्ती काल का है। जितनी भी प्राचीन प्रतियाँ हमारे देखने में आई हैं, वे प्रायः १५२ गाथाओं से लेकर १५५ गाथाओं की हैं। किन्तु परवर्ती काल मे इनकी संख्या १५६ से लेकर १७० तक पहुँच गई। गाथाओं की सब से कम संख्या वीरवाणी विलास जैन सिद्धान्तभवन, मूडबिद्री की ताड़पत्रीय प्रति सं. ४१ (कन्नड़) में १५२ गाथाएँ हैं। उसमे प्रकाशित प्रति की १६७ गाथाओं मे से–८,३४,३७,४६,५५,५७, ६६, ६७, ८०, ८३, ९२, १११, १००, १०३, १६७–ये गाथाएँ नहीं हैं। ब्यावर की प्रति मे गाथाओ की संख्या सब मे अधिक १७६ मिलती है। यद्यपि प्रति के अन्त मे १५५ संख्या दी हुई है, पर १२६ गाथा के अनन्तर ५, ६ क्रम से ५५ तक की सख्या मिलती है। इस प्रति में १५४, १६१, ५२, ५३, ५४, ९१, ९६, १६०, १६२ गाथाओं की पुनरुक्ति मिलती है। अतएव १६७ संख्या ही मिलती है। दिल्ली के श्री दि. जैन नया मन्दिर की ख और ग इन दो प्रतियो में १७० गाथाएँ लिखी हुई मिलती हैं। परन्तु क्रम-सख्या की भूल इन प्रतियों में भी मिलती है। केवल "ग" प्रति में एक अतिरिक्त गाथा उपलब्ध होती है, जो इस प्रकार है—

> पूयसूयरमाणाणं खाराभियभक्खणाणपि ।
> मणु जाइ जहो मज्झे बहिरप्पाणं तहा णयं ॥१४१॥

पाठ अशुद्ध है।

आमेर शास्त्र-भण्डार, तथा महावीर भवन, जयपुर की हस्तलिखित प्रति वेष्टन सं. १८१० को ध्यान से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि प्रति में एक नहीं, अनेक प्रक्षिप्त गाथाएँ हैं। यद्यपि इस प्रति पर लेखन संवत् का उल्लेख नही है, पर प्रति प्राचीन है। इसमें गाथाओं की कुल संख्या १५५ है।

प्रति जीर्ण है और उपलब्ध प्रतियो मे प्राचीनतम है। इस प्रति की एक विशेषता यह है कि इसमें गाथाओं की मूल संख्या १५५ है, पर हाशिए में किसी ने ऊपर से बारीक अक्षरों में जहाँ-तहाँ बारह गाथाएँ अतिरिक्त लिख दी हैं, जिन पर क्रम संख्या अंकित नही है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि रचना में प्रक्षिप्त गाथाएँ किसी ने परवर्ती काल मे मिश्रित कर दी हैं। इसका एक प्रमाण यह भी है कि अधिकतर ताड़पत्रीय प्रतियों मे गाथाओं की संख्या १५५ है। जैन मठ का भण्डार, मूडबिद्री की ताड़-पत्रीय प्रति सं. ३३६ में तथा मैसूर विश्वविद्यालय की कन्नड़ टीका सहित सं. ५३ (क) में भी गाथाओं की सख्या १५५ है। गाथाओ की सब से कम संख्या १५२ वीरवाणी विलास जैन सिद्धान्त भवन, मूड-बिद्री की प्रति मे है। इसी प्रकार से जैन मठ का भण्डार, मूडबिद्री की प्रति सं ८१५ में भी गाथाओ की संख्या १५२ है। इस प्रकार अधिकतर प्रतियों में उपलब्ध गाथा-संख्या और पाठ -सम्पादन की विधि से निर्धारित गाथा की संख्या, दोनों ही दृष्टियो से गाथाओं की संख्या १५५ निश्चित की गई है।

इस ग्रन्थ के संशोधन मे जिन हस्तलिखित प्रतियो का उपयोग किया गया है, उनका परिचय इस प्रकार है:—

(अ) प्रति – यह आमेर शास्त्र-भण्डार, जयपुर स्थित प्राचीनतम प्रति है। वे० सं० १८१०।१०। + ४। । पत्र स० १०। गाथा सं. १५५। इसमें १७० गाथाओं में से ८,१७,३४,३७,४६,५५,५७,६२,६३,६६, ६७,९६,१११, १२२ और १२३ गाथाएँ नहीं है।

श्री दि० जैन सरस्वती भण्डार, धर्मपुरा, नया मन्दिर, दिल्ली में 'रयणसार' की ४ हस्त-लिखित प्रतियाँ विद्यमान है। उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

(क) प्रति—क्रम स ३२ क। पत्र सं. ८। गाथा सं. १७०। प्रति नवीन है।

(ख) प्रति—क्रम सं ३२ ख। पत्र स. ८। गाथा सं. १७०। प्रति नवीन है।

(ग) प्रति—क्रम स ३२ ग। पत्र स. १०। गाथा सं १७०। प्रति पुरानी नही है।

(घ) प्रति—क्रम सं ३२ घ। पत्र सं. १२। गाथा सं. १५४। प्रति प्राचीन जान पड़ती है।

रयणसार की १७० गाथाओं में से ८,३४,४६,५३,५४,५५,५७, ६०,६३,६६,६७,१०१,१११,१२२,१२३,१३६ ये सोलह गाथाएँ नही है।

(प) प्रति—श्री दि. जैन पाटोदी मन्दिर, जयपुर। वेष्टन सं. ९४६। पत्र सं १०। गाथा सं १५३। सस्कृत टिप्पण सहित।

इस प्रति में गाथा सं. ८,१७,३४,३७,४६,५५,५७,६३,६६,६७,९६, ११९,१२२,१२३ नही हैं।

(फ) प्रति—श्री दि. जैन तेरहपंथी बड़ा मन्दिर, जयपुर। वेष्टन सं. १५२२। पत्र स ७-१७। गाथा सं. १५५। प्रति प्राचीन है।

इस प्रति मे गाथा सं. ८,३४,३७,४६,५७,६३,६६,६७,९६,१११,१२२ और १२३ नहीं हैं।

श्री दि. जैन तेरहपंथी बड़ा मन्दिर जयपुर में तीन अन्य हस्तलिखित प्रतियाँ भी मिलती है, जो वि. सं. १८८३ की लिखी हुई हैं। इनमें से एक प्रति में १५५ गाथाएँ हैं और अन्य दो में १७० गाथाएँ है।

(ब) प्रति—ऐ. पन्नालाल दि. जैन सरस्वती भवन, ब्यावर। क्रम सं. ३५९१-८३९। पत्र सं. ११। गाथा सं. १७५। ले. सं. वैशाख वदी ८, शनिवार वि. सं. १९२५।

इस प्रति में कई गाथाओं के लेखन में आवृत्ति हुई है। दो बार लिखी जाने वाली गाथाओं की संख्या इस प्रकार है—

५२, ५३, ५४, ६०, ९१, १००, १०६, १०४, १३६, १३७, १३८, १७१, १७३।

इनमें से १२६ संख्या की गाथा का उल्लेख तीन बार मिलता है। इस प्रकार गाथाओं की कुल संख्या १६१ है।

(म) प्रति—जैन मठ का भण्डार, मूडबिद्री। ताडपत्र प्रति। क्र. सं. ३३६। गाथा सं. १५५।

इस प्रति में मुद्रित १६७ गाथाओं में से निम्न-लिखित १२ गाथाएँ नहीं हैं—

८,३४,३७,४६,५५,५७,६६,६७,१११,१००,१०३। वस्तुतः यह संख्या ११ ही है।

(व) प्रति—वीर-वाणी-विलास जैन सिद्धान्त-भवन मूडबिद्री। क्र. सं. ८१। गाथा सं. १५५। इस प्रति में मुद्रित १६७ गाथाओं में से निम्नलिखित १२ गाथाएँ नहीं है—

८,३४,३७,४६,५५,५७,६६,६७,८३,१११,१००,१२३।

यद्यपि गाथाओं की संख्या १५२ उल्लिखित है, पर आगे-पीछे होने के कारण संख्या में कुछ गड़बड़ी प्रतीत होती है। पाठ-भेद के अनुसार केवल १० गाथाएँ कम है।

इसी प्रकार से उत्तर भारत की प्रतियों में भी क्रम-संख्या ठीक न होने से लोगो को भ्रम हुआ, प्रतीत होता है। कई प्रतियो में भीतर की क्रम-संख्या कम या अधिक हो गई है। जब हमने प्रतियो का अन्तरंग-परीक्षण किया तो १७० गाथा वाली प्रतियो में १६७ गाथाओं में से एक भी गाथा अधिक नहीं मिली। यही स्थिति १७५ गाथाओं वाली प्रतियों की है। उनमें एक ही गाथा कहीं-कहीं एक से अधिक बार दुहराई गई है। गाथाओं की पुनरावृत्ति होने से भी बड़ा भ्रम फैला है।

यद्यपि "रयणसार" की कई प्रतियाँ दक्षिण भारत से लेकर उत्तर भारत तक के विविध शास्त्र-भण्डारों में उपलब्ध होती है, जिनको देखकर सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि इस ग्रन्थ के पठन-पाठन का प्रचार तथा प्रचलन रहा है और इसलिये कोई कारण नहीं है, जो इसकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में सन्देह प्रकट किया जाए। किन्तु असुविधावश उन प्रतियों को प्राप्त करने और देखने का सुयोग नहीं मिल सका है। हमारी जानकारी में इसकी दो प्रतियाँ क्रम सं. २८२ और २८६ जैन मठ श्रवणबेल्गोल में विद्यमान है। इसकी एक प्रति विश्व-विद्यालय मैसूर में क्रम सं. ५३ (क) उपलब्ध है, जिसमें गाथा सं. १५५ है। जैन मठ भण्डार, मूडबिद्री में इसकी एक अन्य प्रति क्रम सं. ८१५ मिलती है जिसमें गाथाओं की संख्या १५२ है। वहीं पर क्रम संख्या १८६ की

प्रति मे गाथाओं की संख्या १५६ बताई गई है। ये सभी ताडपत्रीय प्रतियाँ हैं। इनकी लिपि कन्नड है। क्रम सं ८१५ वाली प्रति में कन्नड़ टीका भी उपलब्ध है, किन्तु उसमे प्रारम्भिक पत्र नहीं हैं।

श्री दि. जैन पंचायती मन्दिर, दिल्ली मे भी इसकी एक हस्तलिखित प्रति थी, जो एक बार देखने के पश्चात् पुनः मिलान करने के लिए नहीं मिल सकी। इस प्रति मे निम्न-लिखित गाथाएँ नही मिलती—

८,४२,४६,४७,५२,५३,५७,६०,६३,६६,६७, ९१, ९६, १०१, १०२, १०८, १०९,११०,१११,११३,१२५,१५०,१५१,१५२ ।

किन्तु यह संख्या प्रामाणिक प्रतीत नही होती। अन्तरग परीक्षा मे ही इसका निश्चय किया जा सकता है। अन्त में हिन्दी पद्यानुवाद को भी ध्यान में रखा गया है। हिन्दी के पद्यानुवाद मे इसकी सख्या १५४ है। इसमें जिन गाथाओ का पद्यानुवाद नही है, उनकी क्रमसंख्या है—

८,३४,३७,४६,५५,५७,६०,६३,६६,६७,१११,१२२,१२३,१३६।

इस प्रकार कुल सख्या १४ है। हिन्दी पद्यानुवाद की प्रति को ध्यान मे देखने पर यह भी पता चलता है कि लगभग ढाई सौ वर्षों के पूर्व तक परम्परा ठीक चल रही थी। आचार्य कुन्दकुन्द की रचना का भाव भी बराबर समझने थे। किन्तु बीच में पठन-पाठन मे शिथिलता आने के कारण पाठ-भेदों मे गड़बडी, लिपि में अशुद्धियो की अधिकता और प्रक्षेपक गाथाओं का समावेश मिलता है।

प्रस्तुत संस्करण में उक्त सभी बातो को ध्यान मे रखकर गाथाओ का विचार किया गया है। यथा सम्भव हमने मूलगामी उचित संशोधन किया है। प्रामाणिकता के लिए विविध पाठो का भी यथास्थान निर्देश किया है। परिशिष्ट मे उद्धृत उद्धरणो से भी स्पष्ट है कि रचना आगमानुकूल है। विस्तार के भय मे कुछ ही सन्दर्भों का चयन किया गया है। इस प्रकार के सन्दर्भों का संकलन कर आगम की प्रामाणिक परम्परा का उल्लेख किया जा सकता है, जो एक स्वतन्त्र शोध व अनुसन्धान का विषय है।

वर्तमानयुगीन हिन्दी भाषा को ध्यान मे रखकर हम पाठकों के अर्थ-बोध के लिए रचना मे प्रयुक्त "मिथ्यात्व" और "सम्यक्त्व" इन दो पारिभाषिक शब्दो के पर्याय रूप में प्रथम बार क्रमशः "अज्ञानता" और "विवेक की जागृति" शब्दों का प्रयोग कर रहे है। आशा है पाठक इसी रूप मे इन को मान्यता देंगे। इनसे अर्थबोध में कोई कमी नहीं आती है। फिर, ये व्यापक अर्थ को देते है। इनकी अर्थवत्ता में हमारा सामान्य भाव समाहित है। कुछ अन्य शब्दों के पर्याय रूप मे "नय" (प्रमाणांश), "निक्षेप" (आरोप), "मूढ़ता" (लोकरूढि), अनायतन (कुसंसर्ग), व्यसन (कुटेव), श्रावक (सद्गृहस्थ) आदि उदाहृत हैं।

यद्यपि कई वर्षो से मेरे मन मे यह विचार लहरा रहा था कि आचार्य कुन्दकुन्द के कई ग्रन्थों का विभिन्न बार अनेक स्थानों से प्रकाशन हो चुका है, किन्तु उन सब मे श्री माणिकचन्द्र दि जैन ग्रन्थमाला और परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई के प्रकाशनों को छोडकर इधर सोनगढ से लागत मूल्य पर अच्छे ग्रन्थो का प्रकाशन हुआ है। इसमें कोई संदेह नही है कि आचार्य कुन्दकुन्द परम आध्यात्मिक सन्त थे। उनकी मूल दृष्टि परमार्थ की ओर रही है। किन्तु वे व्यवहार को सर्वथा हेय नहीं समझते थे।

हमारे विचार से "रयणसार" मे श्रावको की त्रेपन क्रियाओ, दान, दया-पूजा, आदि के अतिरिक्त कोई ऐसे विषय का वर्णन नही है, जो उनकी अन्य रचनाओ में न मिलता हो। फिर क्या कारण है कि "रयणसार" को कुछ लोग प्रामाणिक नही मानते ? किन्तु अपने विचारो की छान-बीन करने का कोई समय नही निकाल सका था। इस बीच इन्दौर से विहार करते हुए पूज्य मुनिश्री विद्यानन्दजी म. का नीमच पदार्पण हुआ, और तभी प्राकृत भाषा के कतिपय शब्दो के सन्दर्भ मे चर्चा हुई। धीरे-धीरे शब्दो की चर्चा ने वार्त्ता का रूप ग्रहण कर लिया। मुनिश्री-जी की शोध-अनुसन्धान विषयक रुचि तथा अध्ययन-ध्यान की प्रवृत्ति ने सहज ही मुझे अपनी ओर आकर्षित कर लिया। वस्तुत "रयणसार" का सम्पादन और अनुवाद का यह कार्य पूज्य मुनिश्री जी की सतत प्रेरणा और आशीर्वाद का फल है। इसमे मेरा अपना कुछ भी नही है। क्योकि यह पहले ही कहा जा चुका है कि अब तक "रयणसार" कई स्थानो से तथा कई भाषाओ मे प्रकाशित हो चुका है। इसलिए हमारे सामने एक शुद्ध संस्करण तैयार करने की समस्या थी। "रयणसार" का प्रारम्भिक कार्य पूज्य मुनिश्रीजी के निर्देशन में आरम्भ हुआ था। किन्तु इसकी मूल समस्या की ओर मुनिश्री का ध्यान हम ने एक लेख लिख कर दिलाया था, जो "अनेकान्त" (२५, ४-५, पृ १५१) मे "रयणसार", आचार्य कुन्दकुन्द की रचना" शीर्षक से प्रकाशित हुआ था। हमने अपनी समझ से तथा उत्तर भारत की हस्तलिखित प्रतियो के आधार पर जो पाठ निश्चित किए थे, उनका मिलान स्वय मुनिश्रीजी ने श्री महावीरजी मे कन्नड़ी मुद्रित प्रति के आधार पर किया था। तदनन्तर पाठभेद की प्रक्रिया उतनी जटिल नहीं रह गई। दक्षिण भारत की प्रतियो से मिलान करने के लिए हमने प. के. भुजबली शास्त्री से निवेदन किया। उन्होने समय-समय पर हमारी जो सहायता की, उसके लिये हम हृदय से उनके आभारी हैं। श्री प देवकुमार जैन मूडबिद्री ने श्री वीरवाणी विलास जैन सिद्धान्त भवन, मूडबिद्री तथा जैन मठ का भण्डार, मूडबिद्री की ताड़पत्र प्रतियों का मिलान कर हमारी जो सहायता की, उसके लिये हम उनके बहुत आभारी है। मठ के भण्डार से प्रति प्राप्त करने मे प. नागराज जी शास्त्री और ट्रस्टी श्रीमान् बी नागकुमारजी शेट्टी की कृपा के लिए कृतज्ञ है। इसी प्रकार डॉ कस्तूरचन्दजी कासलीवाल, जयपुर ने प्रति प्रदान कर और प. हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री ने ब्यावर-भण्डार से हस्तलिखित प्रति भेजकर जो सहायता प्रदान की, उसके लिये भी आभारी है। समय-समय पर प मूलचन्द्रजी शास्त्री से जो विमर्श मिला है, तदर्थ आभार है। पूज्य मुनिश्री जी का यदि आशीर्वाद प्राप्त न हुआ होता तो यह कार्य सम्पन्न होना कठिन था। वास्तव में यह उनके आशीर्वाद का ही फल है। स्वस्ति श्री चारुकीर्ति भट्टारकजी के परम स्नेह व सौजन्य से प्राप्त ताडपत्रीय चित्रो के लिए कृतज्ञता ज्ञापन करना उपचार मात्र है। श्रद्धेय पाटोदी जी तथा माणिकचन्द्र जी पाण्ड्या से प्राप्त सतत स्नेह तथा सहयोग को व्यक्त करने के लिए शब्द सीमित प्रतीत होते है। वास्तव में उनके अध्यवसाय तथा सद्प्रयत्न से एवं डॉ नेमीचन्दजी जैन की सौन्दर्यमूलक दृष्टि से यह रचना इस नयनाभिराम रूप मे प्रकाशित हो सकी है। अन्त मे नई दुनिया प्रेस वालों का आभार है, जिन्होंने कम समय में ही इस रूप मे प्रकाशन कर इसे सुलभ बनाया।

—देवेन्द्रकुमार शास्त्री

श्री पार्श्वनाथ जयन्ती,
पौष कृ १०, वीर निर्वाण स. २५००

संक्षिप्त शब्द-सांकेतिकी

•	पाठ-भेदसूचक चिह्न
★	तारांकित (विशिष्ट सूचन)
आ०	आचार्य
क्र०	क्रमाङ्क
गा०	गाथा
पचा०	पंचास्तिकाय
प्र० सा०	प्रवचनसार
भाव० पा०	भावपाहुड
मो० पा०	मोक्षपाहुड
र० सा०	रयणसार

मोहधयार-पडियाण जणाण विसयसजुत्ताण ।
णिम्मलणाणवियासे दिणयर--किरणोहसब्भासो ।।
णाण णरस्स सारो भणिय खलु कुंदकुंदमुणिणाहे ।
सम्मत्त-रयणसारो आलोयदु सव्वदा लोये ।।

मोह-अन्धकार मे पडे हुए और विषय-वासनाओ मे लिपटे हुए अज्ञानी जनो के लिये सूर्य की किरणो की भाँति निर्मल ज्ञान का प्रकाशक तथा ज्ञान ही जिसमे मनुष्य का सर्वोत्तम है, ऐसे लोक मे भगवत् कुन्द-कुन्दाचार्य का कहा हुआ सभी रत्नो मे श्रेष्ठ सम्यक्त्व रूप यह 'रयण-सार' सदा आलोकित रहे ।

स्वस्ति श्री चारुकीर्ति भट्टारक स्वामीजी श्रवणबेलगोला (कर्नाटक) के सौजन्य से प्राप्त कुन्दकुन्दाचार्य कृत **'रयणसार'** की ताडपत्रीय प्रति के चित्र (कन्नड़ लिपि)
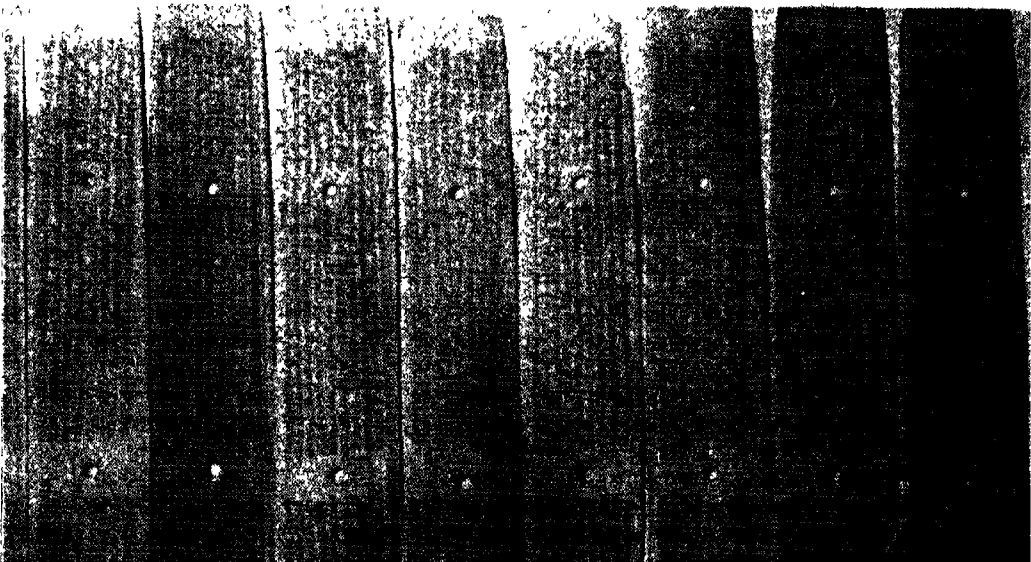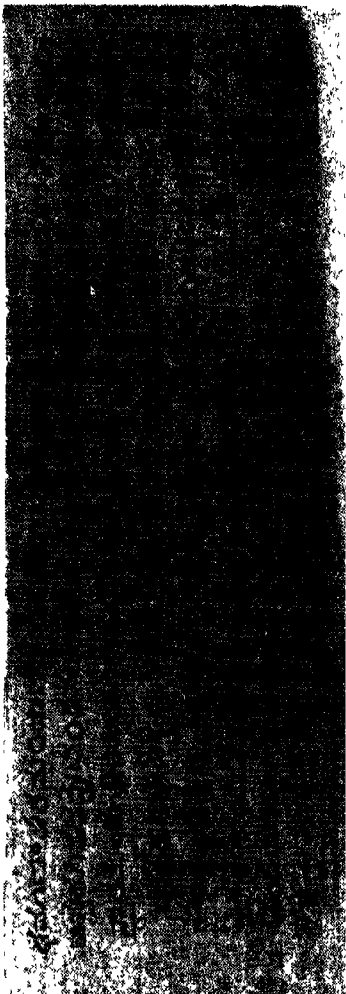
रयण-सार

कुन्दकुन्दाचार्य
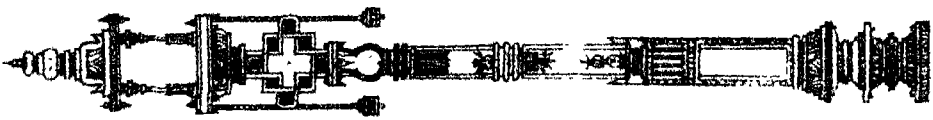
भगवत् आचार्य कुन्दकुन्द कृत

रयण-सार

णमिऊण वड्ढमाणं परमप्पाणं जिणं तिसुद्धेण[1] ।
वोच्छामि[2] रयणसारं सायारणयारधम्मीणं[3] ।।१।।

नत्वा वर्द्धमानं परमात्मान जिनं त्रिशुद्धया ।
वक्ष्ये रत्नसारं सागारानगारधर्मिणम् ।।१।।

शब्दार्थ

परमप्पाणं—परमात्मा, **वड्ढमाणं**—वर्द्धमान, **जिणं**—जिन * को, **तिसुद्धेण**—मन, वचन और काय की शुद्धिपूर्वक; **णमिऊण**—नमस्कार कर; **सायारणयार**—गृहस्थ और मुनि; **धम्मीणं**—धर्मयुक्त; **रयणसारं**—रत्नसार (ग्रन्थ) को; **वोच्छामि**—कहूँगा।

* कर्म-शत्रुओं को जीत कर जो सर्वज्ञ हो गए हैं, ऐसे जिन को, वीतराग को—

रत्नसार

भावार्थ—मैं परमात्मा (तीर्थंकर) वर्द्धमान जिन को मन, वचन और काय की शुद्धि-पूर्वक नमस्कार कर गृहस्थ और मुनि के धर्म से युक्त रत्नसार ग्रन्थ को कहूँगा।

१. °नियेण 'ग'। २. °बोच्छामि 'म' 'व'। ३. °धम्माणं 'अ' 'ग' 'व'।

पुव्वं जिणेहिं[1] भणियं[2] जहट्ठियं गणहरेहिं[3] वित्थरियं ।
पुव्वाइरियक्कमजं[4] तं बोल्लइ[5] सो हु सद्दिट्ठी[6] ।।२।।

पूर्वं जिनैः भणितं यथास्थितं गणधरैः विस्तरितं ।
पूर्वाचार्यक्रमजं तत् कथयति सः खलु सद्दृष्टिः ।।२।।

शब्दार्थ

(जो व्यक्ति) **पुव्वं**—पूर्व काल मे; **जिणेहिं**—सर्वज्ञ के द्वारा, **भणियं**—कहे हुए; **गणहरेहिं**—गणधरो से, **वित्थरियं**—विस्तृत (तथा); **पुव्वाइरियक्कमजं**—पूर्वाचार्यों के क्रम मे (प्राप्त); **जहट्ठियं**—ज्यो का त्यो; **तं**—उस वचन को; **बोल्लइ**—कहता है, **सो**—वह, **हु**—निश्चय से; **सद्दिट्ठी**—सम्यग्दृष्टि (है)।

पूर्वाचार्य-क्रमप्राप्त

भावार्थ—जो व्यक्ति निश्चय से अतीत काल मे सर्वज्ञ के द्वारा कहे हुए तथा गणधरों से विस्तृत एवं पूर्वाचार्यों के क्रम मे प्राप्त वचनो को ज्यों का त्यों कहता है,वह सम्यग्दृष्टि है ।

१. °जिणेहि 'न' 'म' 'व'। २. °जहमिट्ठं 'अ' °हियट्ठिय 'प'। ३. °गणहरेहि 'म' 'व'। ४. °पुव्वायरियकमेण 'अ', 'ग', 'घ', 'च', 'ब'। °पुव्वाइरियकमज्जं 'म' 'व'। ५. °जं तं बोलेइ 'ग' 'ब', °बोल्लए 'म'। ६ °सदिट्ठी 'ब'।

मदि-सुद-णाण-बलेण[1] दु सच्छंदं बोल्लइ[2] जिणुद्दिट्ठं[3] ।
जो सो होइ कुदिट्ठी ण होइ जिणमग्गलग्गरवो[4] ।।३।।

मतिश्रुतज्ञानबलेन तु स्वच्छन्दं कथयति जिनोद्दिष्टमिति ।
यः स भवति कुदृष्टिर्न भवति जिनमार्गलग्नरवः ।।३।।

शब्दार्थ

इदि—इस प्रकार; **जिणुद्दिट्ठं**—सर्वज्ञ कथित (तत्त्व को); **जो**—जो व्यक्ति, **मदिसुदणाणबलेण**—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के बल से; **सच्छंदं**—स्वेच्छानुसार; **बोल्लइ**—बोलता है (और); **जिणमग्गलग्गरवो**—सर्वज्ञ के मार्ग मे सम्बद्ध वाणी (का वक्ता); **ण होइ**—नहीं होता है; **सो**—वह; **दु**—तो; **कुदिट्ठी**—मिथ्यादृष्टि, **होइ**—होता है ।

मिथ्यादृष्टि

भावार्थ—सर्वज्ञ के द्वारा कहे गए तत्त्व को जो व्यक्ति मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के बल से अपनी इच्छानुसार बोलता है, वह जिनवाणी का प्रवचनकार नही है; किन्तु मिथ्यादृष्टि (अज्ञानी) है ।

---

१. °मदिसुदिणाणबलेण 'अ' 'फ' । २. °बोलए 'अ' 'ग' 'घ' 'प' 'फ' 'ब' । ३. °जिणुद्दिट्ठं 'अ' 'घ' 'प' 'फ' 'ब' । ४. °जिणमग्गलग्गरओ 'अ' 'म' 'प' 'फ' ।

सम्मत्तरयणसारं मोक्खमहारुक्खमूलमिदि भणियं ।
तं जाणिज्जइ[1] णिच्छयववहारसरूवदो भेयं[2] ॥४॥

सम्यक्त्वरत्नसार मोक्षमहावृक्षमूलमिति भणित ।
तज्ज्ञायते निश्चयव्यवहारस्वरूपतो भेदं ॥४॥

शब्दार्थ

सम्मत्तरयणसारं—सम्यक्त्व रत्नो मे श्रेष्ठ (है) (इमे), **मोक्खमहारुक्खमूलं**—मोक्ष रूपी महान् वृक्ष का मूल, **इदि**—इस प्रकार, **भणियं**—कहा गया है (और), **तं**—वह, **णिच्छयववहारसरूवदो**—निश्चय, व्यवहार के स्वरूप से, **भेयं**—भेद (वाला); **जाणिज्जइ**—जाना जाता है।

सम्यग्दर्शन

भावार्थ—संसार में सम्यक्त्व सभी रत्नों में श्रेष्ट है। इसे मोक्षरूपी महान् वृक्ष का मल कहा गया है। निश्चय और व्यवहार नय (परमार्थ और लौकिक दृष्टि) से इसका भेद किया जाता है।

१. जाणिज्जउ 'अ' 'घ' 'प' 'फ' 'म'। २. भेयं 'ब' को छोड़कर सभी प्रतियों में। भेदो 'ब'।
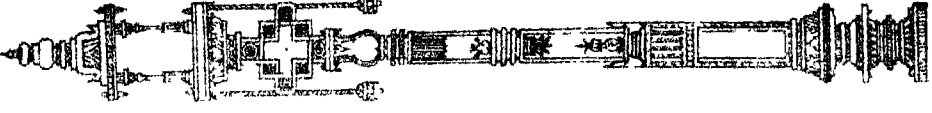
भयविसण[1] मलविवज्जिय संसारसरीरभोगणिव्विण्णो ।
अट्ठगुणंगसमग्गो[2] दंसणसुद्धो हु[3] पंचगुरुभत्तो ।।५।।

भयव्यसनमलविवर्जित. संसारशरीरभोगनिर्विण्णः ।
अष्टगुणाङ्गसमग्रः दर्शनशुद्धः खलु पंचगुरुभक्तः ।।५।।

शब्दार्थ

दंसणसुद्धो—सम्यग्दर्शन से शुद्ध (व्यक्ति) ; **हु**—ही; **भयविसणमल-विवज्जिय**—भय (सात प्रकार के भय), कुटेव (सात प्रकार के व्यसन) (और) दोष (पच्चीस प्रकार के मलों) से रहित (होता है); **संसारसरीरभोग-णिव्विण्णो**—ससार, शरीर और भोगो से विरक्त; **अट्ठगुणंगसमग्गो**—अष्ट गुणो से परिपूर्ण (सम्यग्दर्शन के नि शंकितादि अष्टांग गुणो से युक्त) और; **पंचगुरुभत्तो**—पंचपरमेष्ठी-गुरु का भक्त (होता है) ।

सम्यग्दर्शन के प्राप्त होने पर

भावार्थ—सम्यग्दर्शन से शुद्ध होने पर व्यक्ति सात प्रकार के भय (इहलोक, परलोक, व्याधि, मरण, असंयम, अरक्षण, आकस्मिक) ; सात प्रकार के व्यसन और पच्चीस प्रकार के दोषों से रहित हो जाता है तथा संसार, शरीर और भोगों में उसकी आसक्ति नही रह जाती है । वह सम्यग्दर्शन के नि:शंकितादि अष्ट गुणों से युक्त तथा पंचपरमेष्ठी गुरु का भक्त होता है ।

१. °मयवसणमलविवज्जिय 'त' 'म' 'व' । °विवज्जो 'अ' । २. अट्ठगुणग्गसमग्गो 'अ' 'घ' 'प' 'फ' 'म' । ३. °य 'अ' 'घ' 'प' 'फ' 'य' 'म' 'व' ।
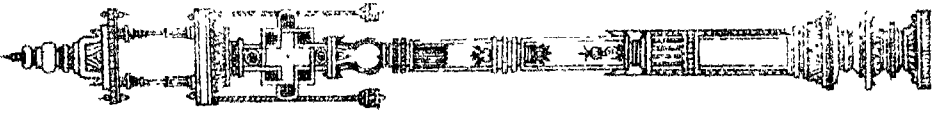
णियसुद्धप्पणुरत्तो बहिरप्पावत्थ[1]वज्जिओ[2] णाणी ।
जिणमुणिधम्मं मण्णइ गयदुक्खो[3] होइ सद्दिट्ठी[4] ॥६॥

निजशुद्धात्मानुरक्तः बहिरात्मावस्थावर्जितो ज्ञानी ।
जिनमुनिधर्मं मन्यते गतदुःखो भवति सद्दृष्टिः ॥६॥

शब्दार्थ

णाणी—ज्ञानी; **णियसुद्धप्पणुरत्तो**—निज शुद्ध आत्मा मे अनुरक्त, **बहिरप्पावत्थवज्जिओ**—बहिरात्मा (बहिर्मुखी) अवस्था मे रहित, **जिणमुणिधम्मं**—वीतराग-मुनि-धर्म को, **मण्णइ**—मानता है (और), **गयदुक्खो**—दुःखों से रहित, **सद्दिट्ठी**—सम्यग्दृष्टि (अन्तर्मुखी), **होइ**—होता है ।

सम्यग्दृष्टि

भावार्थ—ज्ञानी स्वसवेद्य परिणति में लीन होकर बहिर्मुखी प्रवृत्तियों से हट जाता है और वीतराग मुनिधर्म (वीतराग चारित्र) को मानने लगता है । इस प्रकार वह सम्यग्दृष्टि दुःखों से रहित होता है ।

१. °बहिरप्पावत 'म' । २. °वज्जियो 'म' 'व' । ३. °गइदुक्खो 'अ' 'ग' 'घ' 'ब' 'व' । ४. °सुदिट्ठी 'अ' ।

मयमूढमणायदणं[1] संकाइवसणभयमईयारं[2] ।
जेसिं चउदालेदे[3] ण संति ते होंति[4] सद्दिट्ठी ।।७।।
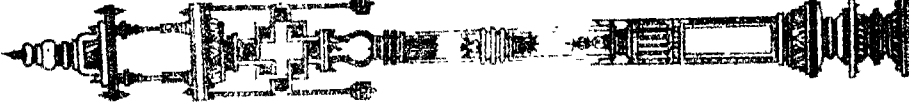
मदमूढमनायतनं शंकादिव्यसनभयमतीचारं ।
येषां चतुश्चत्वारिंशत् एतानि न संति ते भवंति सद्दृष्टयः ।।७।।

शब्दार्थ

जेसिं—जिनके; **मयमूढमणायदणं**—मद (आठ मद), लोकरूढि (तीन मूढता), कुसंसर्ग (छह अनायतन); **संकाइवसणभयमईयारं**—शकादिक (आठ दोष), कुटेव (सात व्यसन), भय (सात भय) (और) अतिक्रमण-उल्लघन (पाँच अतिचार) **(ये)**; **चउदालेदे**—चवालीस (दूषण); **ण**—नहीं, **संति**—होते है; **ते**—वे, **सद्दिट्ठी**—सम्यग्दृष्टि; **होंति**—होते हैं ।

सम्यग्दृष्टि कौन ?

भावार्थ—जिन के आठ प्रकार के मद (अहंकार), तीन मूढ़ताएँ (लोकरूढ़ियां), छह अनायतन (कुसंसर्ग), शकादिक आठ दोष, सात व्यसन (कुटेव), सात तरह के भय और नियम-व्रत आदि के उल्लंघनस्वरूप पाँच प्रकार के अतिचार मिलाकर चवालीस दूषण नही होते हैं, वे सम्यग्दृष्टि होते है ।

---

१ °मयमूढमणायदणं 'प' 'फ' 'व' । २ °संकाइवसणभयमइयारं 'अ' 'ग' 'घ' 'प' 'फ' ।
३ °चउदालेदो 'ग' 'घ' 'य' । ४ °हुंति 'ग' ।
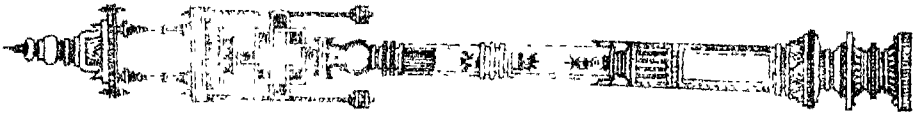
देवगुरुसमयभत्ता संसारसरीरभोगपरिचत्ता ।
रयणत्तयसंजुत्ता ते मणुया[1] सिवसुहं पत्ता ॥८॥

देवगुरुसमयभक्ताः संसारशरीरभोगपरित्यक्ताः ।
रत्नत्रयसंयुक्तास्ते मनुष्याः शिवसुखं प्राप्ताः ॥८॥

शब्दार्थ

देवगुरुसमयभत्ता––देव, गुरु (और) शास्त्र (के) भक्त, **संसारसरीरभोगपरिचत्ता**––संसार, शरीर (और) भोग (के) परित्यागी, **रयणत्तय-संजुत्ता**––रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र) (से) युक्त (होते हैं); **ते**––वे; **मणुया**––मनुष्य लोग; **सिवसुहं**––मोक्षसुख को; **पत्ता**––प्राप्त करते हैं)।

रत्नत्रय से शिवसुख

भावार्थ––जो मनुष्य देव, गुरु और शास्त्र के भक्त हैं तथा संसार, शरीर और भोग में अनासक्त हैं, वे रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) से युक्त होकर (भेद और अभेद रत्नत्रय की संविति से संयुक्त हो) मोक्ष सुख को प्राप्त करते हैं।

१ °मणया 'अ' 'प' 'फ'। २ °मणुवा 'ब'।

दाणं पूया[1] सीलं उववासं बहुविहंपि खवणं पि ।
सम्मजुदं मोक्खसुहं सम्मविणा दीहसंसारं[2] ॥९॥

दानं पूजा शीलं उपवासः बहुविधमपि क्षपणमपि ।
सम्यक्त्वयुत मोक्षसुखं सम्यक्त्वं विना दीर्घसंसारः ॥९॥

शब्दार्थ

सम्मजुदं—सम्यग्दर्शन से युक्त; **दाणं**—दान, **पूया**—पूजा; **सीलं**—शील; **उववासं**—उपवास; **बहुविहं**—बहुत प्रकार के (व्रत) (तथा); **पि**—भी, **खवणं**—कर्मक्षय के कारण; **पि**—भी; **मोक्खसुहं**—मोक्षसुख (के हेतु हैं); **सम्मविणा**—सम्यग्दर्शन के विना; **दीहसंसारं**—दीर्घ संसार (होता है)।

इस जीव को

भावार्थ—सम्यग्दर्शन से युक्त मनुष्य के लिए दान, पूजा, शील, उपवास तथा अनक प्रकार के व्रत कर्मक्षय के कारण तथा मोक्षसुख के हेतु है। सम्यग्दर्शन (विवेक की जाग्रति) के विना ये ही दीर्घ संसार के कारण होते हैं।

१. °पुज्जा 'घ'। °पूजा 'ब' 'म' 'व'। २. °रो 'प' 'फ'। °रा 'घ' 'व'।
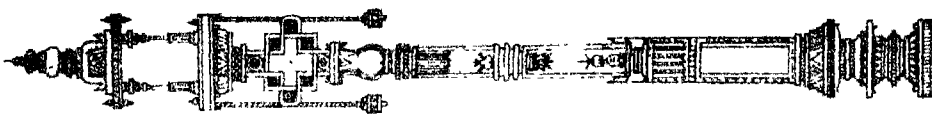
दाणं पूया[1] मुक्खं सावयधम्मे[2] ण सावया[3] तेण विणा ।
झाणाज्झयणं[4] मुक्खं जइ-धम्मे तं विणा तहा[5] सो वि ।।१०।।

दान पूजा मुख्य. श्रावकधर्मे न श्रावका. तेन विना ।
ध्यानाध्ययनं मुख्यो यतिधर्मे तं विना तथा सोऽपि ।।१०।।

शब्दार्थ

सावयधम्मे—श्रावकधर्म मे. **दाणं**—दान, **पूया**—पूजा, **मुक्खं**—मुख्य (है) **तेण**—उसके; **विणा**—बिना, **सावया**—श्रावक (सद्गृहस्थ), **ण**—नही (होता है), **जइ-धम्मे**—यति (मुनि) धर्म (मे); **झाणाज्झयणं**—ध्यान-अध्ययन, **मुक्खं**—मुख्य (है), **तं**—उस (ध्यानाध्ययन) (के), **विना**—बिना, **सो**—वह (मुनिधर्म), **वि**—भी; **तहा**—उसी प्रकार (व्यर्थ है) ।

श्रावक-धर्म

भावार्थ—सद्गृहस्थ (श्रावक) के लिए धार्मिक क्रियाओ मे दान, पूजा आदि (छह आवश्यक कार्य: देवपूजा, उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान) मुख्य कार्य है । इनके बिना कोई भी मनुष्य सद्गृहस्थ नही बनता । मुनिधर्म मे ध्यान और अध्ययन करना मुख्य है । इनके बिना मुनिधर्म का पालन करना व्यर्थ है ।

---

१ °पुज्जा 'अ' 'फ' । °पूजा 'ब' 'म' 'व' । २ °सावयधम्मं 'अ' । ३ °सावगो 'अ' 'प' 'फ' 'म' 'व' । ४ °झाणदंमण 'ब' । ५ °ते हु 'म' ।

दाणु ण धम्मु ण चागु ण भोगु ण बहिरप्पजो[1] पयंगो सो ।
लोहकसायग्गिमुहे पडियो[2] मरियो ण संदेहो ॥११॥

दानं न धर्मः न त्यागो न भोगो न बहिरात्मज्ञो यः पतंगः सः ।
लोभकषायाग्निमुखे पतितः मृतो न सदेहः ॥११॥

शब्दार्थ

(जो) **दाणु ण**—दान नही; **धम्मु ण**—धर्म नही, **चागु ण**—त्याग नही; **भोगु ण**—(न्यायपूर्वक) भोग नही (करता), **सो**—वह; **बहिरप्पजो**—बहिरात्मज्ञ, **पयंगो**—पतंगा (है, जो); **लोहकसायग्गि-मुहे**—लोभ कषाय रूप अग्नि के मुख मे; **पडियो**—पडा हुआ, **मरियो**—मर गया है (इसमें); **संदेहो**—सन्देह; **ण**—नही (है)।

बहिरात्मज्ञ

भावार्थ—जो गृहस्थ दान नही देता है, धर्म तथा त्याग नही करता है और न्यायपूर्वक भोग नही भोगता है, वह भौतिक पदार्थो को आत्मा समझने वाला 'बहिरात्मज्ञ' पतंगे के समान है, जो लोभवश अग्नि (रूप, चमक-दमक) के मुंह में पडकर मर जाता है। इसमें सन्देह नही है।

१ बहिरप्पुजो 'अ' 'फ'। २ पडिया 'अ'।

जिणपूया[1] मुणिदाणं करेइ जो देइ सत्तिरूवेण ।
सम्माइट्ठी सावयधम्मी[2] सो मोक्खमग्गरओ[3] ।।१२।।

जिनपूजा मुनिदानं करोति यो ददाति शक्तिरूपेण ।
सम्यग्दृष्टिः श्रावकधर्मी स भवति मोक्षमार्गरतः ।।१२।।

शब्दार्थ

जो—जो; **सत्तिरूवेण**—यथाशक्ति, **जिणपूया**—जिन-पूजा, **करेइ**—करता है, **मुणिदाणं**—मुनियों को दान, **देइ**—देता है, **सो**— वह, **मोक्खमग्गरओ**—मोक्षमार्ग मे रत, **धम्मी**—धर्मात्मा; **सम्माइट्ठी**—सम्यग्दृष्टि, **सावय**—श्रावक (होता है)।

धर्मात्मा

भावार्थ—जो शक्ति के अनुसार जिनदेव की पूजा करता है और मुनियों को दान देता है, वह मोक्षमार्ग मे रत धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि श्रावक होता है ।

१ °जिणपूजा 'म' 'व'। २ °धम्मि 'ग' 'व'। ३ °ग्वो 'व' 'म'।

पूयफलेण[1] तिलोए सुरपुज्जो हवेइ सुद्धमणो ।
दाणफलेण तिलोए[2] सारसुहं भुंजदे णियदं ।।१३।।

पूजाफलेन त्रिलोके सुरपूज्यो भवति शुद्धमनः ।
दानफलेन त्रिलोके सारसुखं भुक्ते नियतं ।१३।।

शब्दार्थ

सुद्धमणो—शुद्ध मन (मे) (की गई), **पूयफलेण**—पूजा के फल से, **तिलोए**—तीन लोक में; **सुरपुज्ज**—देवताओं मे पूज्य, **हवेइ**—होता है (और), **दाणफलेण**—दान के फल से, **तिलोए**—तीन लोक में; **णियदं**—निश्चित; **सारसुहं**—श्रेष्ठ सुख को; **भुंजदे**—भोगता है।

उपासना का फल

भावार्थ—शुद्ध मन से की जाने वाली पूजा के फल से जीव तीनों लोकों में देवताओं से पूज्य होता है और दान के फल मे तीनों लोको में निश्चित श्रेष्ठ सुख भोगता है।

---

१ °पूयाफलेण 'ग' 'ब'। °पूजा 'अ' 'घ' 'प' 'फ' 'म' 'ब'। २ °तिल्लोक्के 'अ' 'प' 'फ' 'ब'। °तिलोकेमरपुज्जो 'म'। °तेलोक्केमरपूज्जा 'ब'।

दाणं भोयणमेत्तं दिण्णइ धण्णो[1] हवेइ सायारो ।
पत्तापत्तविसेसं संदंसणे[2] किं वियारेण[3] ।।१४।।

दानं भोजनमात्रं दीयते धन्यो भवति सागारः ।
पात्रापात्रविशेषं संदर्शने किं विचारेण ? ।।१४।।

शब्दार्थ

सायारो—गृहस्थ (यदि), **भोयणमेत्तं**—आहार मात्र, **दाणं**—दान, **दिण्णइ**—देता है (तो), **धण्णो**—धन्य, **हवेइ**—हो जाता है; **संदंसणे**—साक्षात्कार होने पर; **पत्तापत्तविसेसं**— उत्तम पात्र-अपात्र (का) विशेष (रूप में), **वियारेण**—विचार (वितर्क) (में); **किं**—क्या (लाभ है)?

उत्तम पात्रापात्र का वितर्क

भावार्थ—यदि गृहस्थ आहार (भोजन) मात्र भी दान देता है, तो धन्य हो जाता है। मुनि के साक्षात्कार या सत्-दर्शन होने पर उत्तम पात्र-अपात्र का वितर्क करने से उस समय क्या लाभ है?

१ °धम्मो 'अ' 'फ'। २ °सदमणे 'ब'। °दमणे 'म'। ३ °विकारेण 'फ'।

दिण्णइ सुपत्तदाणं विसेसदो होइ भोगसग्गमही[1] ।
णिव्वाणसुहं कमसो णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं ।।१५।।

दीयते सुपात्रदानं विशेषतो भवति भोगस्वर्गमही ।
निर्वाणमुखं क्रमशः निर्दिष्टं जिनवरेन्द्रैः ।।१५।।

शब्दार्थ

सुपत्तदाणं—सुपात्र को दान (यदि); **दिण्णइ**—दिया जाता है (तो); **विसेसदो**—विशेष रूप से; **भोगसग्गमही**—भोगभूमि, स्वर्ग (प्राप्त); **होइ**—होता है (और), **कमसो**—क्रमशः; **णिव्वाणसुहं**—निर्वाणमुख (मिलता है); **जिणवरिंदेहिं**—जिनेन्द्र देव (ने); **णिद्दिट्ठं**—कहा है।

दान

भावार्थ—यदि योग्य पात्र मे दान दिया जाता है, तो उसका फल विशेष रूप से भोगभूमि तथा स्वर्ग-प्राप्ति होता है और क्रम मे निर्वाणसुख मिलता है, यह जिनेन्द्र देव ने कहा है।

---

१ °भोयमग्गमही 'अ' 'प' 'फ' 'म' 'य' 'व'

इह णियसुवित्तबीयं[1] जो ववइ जिणुत्तसत्तखेत्तेसु ।
सो तिहुवणरज्जफलं भुंजदि[2] कल्लाणपंचफलं ॥१६॥

इह निजसुवित्तबीजं यो वपति जिनोक्तसप्तक्षेत्रेषु ।
स त्रिभुवनराज्यफलं भुनक्ति कल्याणपंचफलं ॥१६॥

शब्दार्थ

इह—इस (लोक मे), **जो**—जो (व्यक्ति), **णिय**—निज, **सुवित्तबीयं**—श्रेष्ठ धनरूप बीज को; **जिणुत्त**—जिन (देव) के द्वारा कथित, **सत्तखेत्तेसु**—सप्त क्षेत्रो में, **ववइ**—बोता है, **सो**—वह, **तिहुवण**—तीन लोक (के), **रज्जफलं**—राज्यफल (एव); **कल्लाणपंचफलं**—पचकल्याणक रूप फल को, **भुंजदि**—भोगता है ।

धन का सदुपयोग

भावार्थ—इस ससार में जो भव्यजीव न्यायपूर्वक अर्जित अपने श्रेष्ठ धनरूप बीज को जिनदेव के द्वारा कहे गए सात क्षेत्रों (जिन पूजा, मन्दिर आदि की प्रतिष्ठा, तीर्थयात्रा, मुनि आदि पात्रों को दान देना, सहधर्मियो को दान देना, भूखे-प्यासे तथा दु:खी जीवों को दान देना, अपने कुल व परिवार वालो को सर्वस्व दान करना) में बोता है, वह तीनों लोकों के राज्य के फल सुख को प्राप्त करता है ।

---

१ °णियसुचित्तबीयं 'फ'। २ °भुजइ 'अ' 'घ' 'प' 'फ' 'म' 'व'।

खेत्तविसेसे काले वविय[1] सुबीयं फलं जहा विउलं ।
होइ तहा तं जाणहि[2] पत्तविसेसेसु दाणफलं ।।१७।।

क्षेत्रविशेषे काले उप्तं सुबीजं फलं यथा विपुलं ।
भवति तथा तज्जानीहि पात्रविशेषेषु दानफलं ।।१७।।

शब्दार्थ

जहा—जैसे; **काले**—(उचित) समय में; **खेत्तविसेसे**—उत्तम क्षेत्र मे, **वविय**—बोए गए; **सुबीयं**—उत्तम बीज (का); **विउलं**—विपुल; **फलं**—फल; **होइ**—होता है, **तहा**—वैसे (ही); **पत्तविसेसेसु**—उत्तम पात्रों में (दिए गए); **दाणफलं**—दान का फल; **जाणहि**—जानो ।

दान का फल कब ?

भावार्थ—जिस प्रकार उचित काल में उत्तम क्षेत्र में बोए गए अच्छे बीज का बहुत अच्छा फल मिलता है, उसी प्रकार उत्तम पात्र (मुनि) में दिए गए दान का फल भी उत्तम होता है।

१ °वनिय 'म'। २ °जाणउ 'घ' 'फ' 'व'। °जाणओ 'म'।

मादु-पिदु-पुत्त-मित्तं कलत्त-धणधण्ण-वत्थु-वाहणं-विहवं[1]।
संसारसारसोक्खं सव्वं[2] जाणउ सुपत्तदाणफलं ।।१८।।

मातृ-पितृ-पुत्र-मित्र कलत्रधनधान्यवास्तुवाहनविभवं ।
संसारसारसौख्यं सर्व जानातु सुपात्रदानफल ।।१८।।

शब्दार्थ

मादु—माता, **पिदु**—पिता, **मित्तं**—मित्र, **कलत्त**—स्त्री, **धणधण्ण**—धन-धान्य, **वत्थु**—वास्तु (घर); **वाहणं**—वाहन, **विहवं**—वैभव (और), **संसारसारसोक्खं**—संसार का उत्तम सुख, **सव्वं**—सब, **सुपत्तदाणफलं**—सुपात्र-दान का फल, **जाणउ**—जानो।

दान की महिमा

भावार्थ—माता-पिता, मित्र, पत्नी, धन-धान्य, घर, वाहन (सवारी) आदि वैभव और संसार का उत्तम सुख, ये सभी सुपात्र-दान के फल से प्राप्त होते हैं।

१ विभयं 'ग'। २ सव्वं 'प'। सव्वं 'व'।

सत्तंगरज्ज-णव-णिहि-भंडार-छडंग[1]बल-चउद्दह[2]रयणं ।
छण्णवदि[3]सहस्सेत्थि[4]-विहवं जाणउ[5] सुपत्तदाणफलं ॥१९॥

सप्तांगराज्यनवनिधि-भण्डारषडङ्गबलचतुर्दशरत्नानि ।
षण्णवतिसहस्रस्त्रीविभवो जानातु सुपात्रदानफल ॥१९॥

शब्दार्थ

सत्तंगरज्ज—सप्तांग राज्य, **णवणिहि**—नव निधि (का), **भंडार**—भण्डार, **छडंगबल**—छह अंगो से युक्त सेना, **चउद्दहरयणं**—चौदह रत्न (तथा), **छण्णवदिसहस्सेत्थि**—छियानवे हजार स्त्री (रूप); **विहवं**—वैभव (को), **सुपत्तदाणफलं**—सुपात्र दान का फल; **जाणउ**—जानो।

और

भावार्थ——उत्तम पात्र को दान देने से राजा, मन्त्री, मित्र, कोष, देश, किला, सेना (सप्तांग राज्य का पद), नव निधि (काल, महाकाल, पांडु, मानव, शंख, पद्म, नैसर्प, पिगल, माना रत्न), छह अगो से युक्त सेना (हाथी, घोडा, रथ, पैदल, आदि), चौदह रत्न (पवनंजय अश्व, विजयगिरि हस्ती, भद्रमुख गृहपति, कामवृष्टि, अयोद्ध सेनापति, सुभद्रा पत्नी, बुद्धिसमुद्र पुरोहित ये सात जीवरत्न और सात अजीव रत्न : छत्र, तलवार, दण्ड, चक्र, काकिणी रत्न, चिन्तामणि और चर्मरत्न) एवं छियानवे हजार स्त्रियो के वैभव का फल प्राप्त होता है।

१ °सडग 'क' 'ग' 'य'। २ °चोद्दह 'अ' 'प' 'फ' 'म' 'व'। ३ °छण्णउदि 'अ' 'प' 'फ'। ४ °महस्सित्थि 'व'। °महस्सेन्थी 'अ' 'प' 'फ' 'म'। ५ °जाणह 'अ' 'ग' 'व'।

सुकुल-सुरूव-सुलक्खण-सुमइ-सुसिक्खा-सुसील-चारित्तं[1] ।
सुहलेस्सं सुहणामं सुहसादं[2] सुपत्तदाणफलं ॥२०॥

सुकुलं सुरूपं सुलक्षणं सुमतिः सुशिक्षा सुशीलं चारित्रम् ।
शुभलश्या शुभनामः शुभसातं सुपात्रदानफलं ॥२०॥

शब्दार्थ

सुकुल—उत्तम कुल, **सुरूव**—उत्तम रूप, **सुलक्खण**—उत्तम लक्षण; **सुमइ**—उत्तम बुद्धि; **सुसिक्खा**—उत्तम शिक्षा, **सुसील**—उत्तम प्रकृति; **चारित्तं**—(उत्तम) चारित्र, **सुहलेस्सं**—शुभ लेश्या; **सुहणामं**—शुभ नाम (कर्म) (और); **सुहसादं**—शुभ सुख; **सुपत्तदाणफलं**—सुपात्रदान के फल (है)।

और भी

भावार्थ—अच्छे कुल, अच्छे रूप, अच्छे लक्षण, अच्छी बुद्धि, अच्छी शिक्षा, अच्छी प्रकृति, अच्छे गुण, अच्छा चारित्र, अच्छी प्रवृत्ति, परिणामों की विचित्रता और अच्छा सुख, ये सभी सुपात्रदान के फल हैं।

---

१ °सुसील सुगुण सुचरित्त 'अ' 'क' 'ग' 'प' 'फ' 'ब' 'म' 'य' 'व'। २ °सयलक्ख सुहाणुमवणं विहवं जाणउ 'म' 'व'।

जो मुणिभुत्तविसेसं भुँजइ सो भुंजए[1] जिणुवदिट्ठं[2] ।
संसार-सार-सोक्खं कमसो णिव्वाणवरसोक्खं[3] ॥२१॥

यो मुनिभुक्तविशेष भुंक्ते स भुक्ते जिनोपदिष्टं ।
संसारसारसौख्यं क्रमशो निर्वाणवरसौख्यं ॥२१॥

शब्दार्थ

जो—जो (व्यक्ति); **मुणिभुत्तविसेसं**—(उत्तम पात्र) मुनि के विशेष (रूप से) भोजन कर लेने पर; **भुजइ**—भोजन करता है. **सो**—वह, **संसारसारसोक्खं**—संसार के अच्छे सुख, **कमसो**—(और) क्रमशः; **णिव्वाणवरसोक्खं**—मोक्ष के उत्तम सुख को; **भुंजए**—भोगता है (यह); **जिणुवदिट्ठं**—जिनेन्द्र देव का उपदेश है।

आहारदान की महिमा

भावार्थ—जो व्यक्ति मुनि के भलीभांति आहार कर लेने के बाद स्वयं भोजन करता है, वह संसार के अच्छे सुख और क्रम से मोक्ष के उत्तम सुख को भी भोगता है, ऐसा जिनेन्द्र देव का उपदेश है।

१ °भुजदि 'ग' 'ब'। ० °भुंजये 'ब'। २ °जिणुवद्दिट्ठं 'ब'। ३ °सुक्खं 'अ' 'फ'।

सीदुण्ह-वाउपिउलं[1] सिलेसिमं तह परीसहव्वाहिं[2] ।
कायकिलेसुववासं जाणिज्जे[3] दिण्णए दाणं ॥२२॥

शीतोष्णवातपित्तलं श्लेष्मल तथा परीषहव्याधि ।
कायक्लेश उपवासं ज्ञात्वा दीयते दान ॥२२॥

शब्दार्थ

सीदुण्ह—शीत-उष्ण, **वाउपिउलं**—वात-पित्त, **सिलेसिमं**—श्लेष्म (कफ) [प्रकृतिवाले], **तह**—तथा **परीसहव्वाहिं**—परीषह-व्याधि; **कायकिलेस**—कायक्लेश (और), **उववासं**—उपवास को, **जाणिज्जे**—जान (कर), **दाणं**—दान, **दिण्णए**—दिया जाता है ।

कैसे दान देवे ?

भावार्थ—गृहस्थ को मुनि की वात, पित्त, कफ प्रकृति तथा शान्त भाव से सहन करने वाले उनके दुःख, रोग, देह-पीड़ा और उपवास (आदि) को समझ कर दान देना चाहिए ।

१ °वायविउल 'अ' 'फ' । °वायुपिउल 'ग' 'ब' । °वायपिउल 'म' । २ °परीसमव्वाहिं 'म' 'ब' । °परिस्समं 'अ' 'ग' 'घ' 'फ' । ३ °जाणिज्जा 'अ' 'ग' 'न' 'फ' 'म' ।
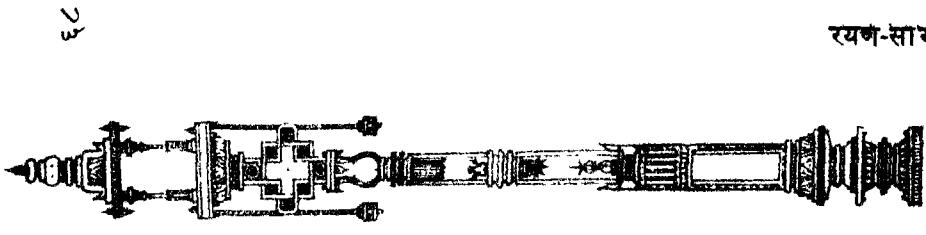
हिय-मिय-मण्णं-पाणं णिरवज्जोसहिं[1] णिराउलं ठाणं ।
सयणासणमुवयरणं जाणिज्जा[2] देइ मोक्खरओ[3] ।।२३।।

हितमितमन्नं-पान निरवद्यौषधि निराकुलं स्थानम् ।
शयनासनमुपकरणं ज्ञात्वा ददाति मोक्षरतः ।।।२३।।

शब्दार्थ

मोक्खरओ—मोक्ष (मार्ग) में रत, **हिय-मियं**—हित-मित, **अण्णं-पाणं**—अन्न-पान: **णिरवज्जोसहिं**—निर्दोष औषधि, **णिराउलं**—निराकुल, **ठाणं**—स्थान, **सयणासणमुवयरणं**—शयन, आसन, उपकरण को **जाणिज्जा**—समझकर, **देइ**—देता है।

तथा

भावार्थ—मोक्षमार्ग में स्थित गृहस्थ उत्तम मुनि के लिए हितकर परिमित अन्न-पान, निर्दोष औषध, निराकुल स्थान, शयन, आसन, उपकरण (आदि) के औचित्य को समझ कर देता है।

१ °णिरवज्जासहि 'म' 'व'। २ °जाणिज्जइ 'अ' 'फ'। ३ °मोक्खमग्गरओ 'अ' 'व'।

अणयाराणं वेज्जावच्चं कुज्जा जहेह[1] जाणिज्जा ।
गब्भब्भमेव[2] मादा व्व[3] णिच्चं तहा णिरालसया ।।२४।।

अनगाराणां वैयावृत्य कुर्यात् यथेह ज्ञात्वा ।
गर्भार्भकमेव माता इव नित्य तथा निरालसका ।।२४।।

शब्दार्थ

इह—यहाँ, **अणयाराणं**—मुनियो की, **वेज्जावच्चं**—सेवा (को); **जाणिज्जा**—जान कर, **तहा**—वैसे ही (उन की सेवा); **कुज्जा**—करनी चाहिए, **जहा**—जैसे, **मादा**—माता, **गब्भब्भमेव**—गर्भस्थ शिशु को (पालती है); **व्व**—(उसके) समान, **णिच्चं**—नित्य, **णिरालसया**—आलस्य रहित होकर ।

सेवा

भावार्थ—जैसे माता-पिता गर्भस्थ शिशु को सावधानी पूर्वक पालते है, वैसे ही मुनियों की सेवा इस लोक मे सावधान होकर करनी चाहिए ।

---

१ °जहीह 'म' 'व' । °जहेह 'अ' 'ग' 'घ' 'प' 'फ' 'ब' । २ °गब्भभवेव 'म' 'व' । ३ °पि दुव्व 'म' 'व' ।

सप्पुरिसाणं दाणं कप्पतरूणं[1] फलाण सोहं वा[2] ।
लोहीणं दाणं जइ विमाणसोहा-सवं[3] जाणे[4] ।।२५।।

सत्पुरुषाणां दानं कल्पतरूणां फलानां शोभेव ।
लोभिनां दानं यदि विमानशोभा-शवं जानीहि ।२५।।

शब्दार्थ

सप्पुरिसाणं—सत्पुरुषों का (दिया हुआ), **दाणं**—दान; **कप्पतरूणं**—कल्पवृक्ष के; **फलाण**—फलों की; **सोहं**—शोभा (के), **वा**—समान (है) (और). **जइ**—यदि; **लोहीणं**—लोभी (पुरुषों के द्वारा); **दाणं**—दान (दिया जाता है तो), **सवं**—शव (की); **विमाणसोहा**—ठठरी की शोभा (के समान); **जाणे**—जानना (चाहिए)।

सज्जनों का दान

भावार्थ—सत्पुरुषों (सम्यग्दृष्टियो) के द्वारा दिया हुआ दान कल्पवृक्ष के फलों की भाँति मनवांछित फल प्रदान करने वाले के समान होता है, किन्तु लोभी पुरुषों का दान भक्तिभाव से शून्य होने के कारण शव की भाँति होता है।

---

१ °कप्पसुराणं 'म' 'व'। २. °मोहवहं 'ग'। °ण मोहं व 'अ' 'घ' 'फ'। ३. °विमाणमोहं वा 'म' 'व'। °विमाणसोहामवस्स 'अ' 'घ'। ४. °जाणीहि 'म' 'व'। °जाणेह 'अ' 'घ'।

जसकित्ति[1]पुण्णलाहे देइ सुबहुगंपि जत्थतत्थेव[2] ।
सम्माइ[3]सुगुणभायण पत्तविसेसं ण जाणंति ।।२६।।

यशःकीर्तिपुण्यलाभाय ददाति सुबहुकमपि यत्र तत्रैव ।
सम्यक्त्वादिसुगुणभाजनपात्रविशेषं न जानन्ति ।।२६।।

शब्दार्थ

(लोभी पुरुष) **जसकित्तिपुण्णलाहे**—यश-कीर्ति (और) पुण्य-लाभ (के लिए), **जत्थतत्थेव**—जहाँ-तहाँ ही, **सुबहुगंपि**—अनेक प्रकार भी (दान), **देई**—देता है (वह), **सम्माइ**—सम्यक्त्वादि; **सुगुणभायण**—उत्तम गुणो मे योग्य; **पत्तविसेसं**—उत्तम पात्र को, **ण**—नही, **जाणंति**—जानते (है)।

लोभ से नहीं

भावार्थ—लोभी पुरुष कीर्ति और पुण्य की चाहना मे जिस-किसी को पात्र-अपात्र का विचार किए विना कई तरह मे दान देते है, किन्तु सम्यक्त्व, ज्ञानादि गुणों से युक्त उत्तम पात्र को वे नही जानते ।

---

१. °कट्टि 'म' 'व' । २. °जत्तत्तेव 'म' 'व' । ३. °समाए 'घ' 'प' ।

जंतं-मंतं-तंतं[1] परिचरियं[2] पक्खवायपियवयणं[3] ।
पडुच्च[4] पंचमयाले भरहे दाणं ण किं पि मोक्खस्स ।।२७।।

यंत्रं-मंत्रं-तंत्रं परिचर्यां पक्षपातप्रियवचनं ।
प्रतीत्य पंचमकाले भरते दानं न किमपि मोक्षाय ।२७।।

शब्दार्थ

जंतं-मंतं-तंतं—यन्त्र, मन्त्र (और) तन्त्र (के द्वारा तथा); **परिचरियं**—परिचर्या (सेवा, उपचार), **पक्खवाय**—पक्षपात (सिद्धि) (एवं), **पियवयणं**—प्रिय वचन (के द्वारा), **पडुच्च**—प्रतीति (विश्वास उत्पन्न कर); **पंचमयाले**—पंचम काल मे (वर्तमान मे), **भरहे**—भारत (देश) मे, **किं पि**—किसी भी तरह का; **दाणं**—दान, **मोक्खस्स**—मोक्ष का (कारण); **ण**—नही (है)।

चमत्कार में विश्वास रखकर नहीं

भावार्थ—जो इस वर्तमान काल में यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, सेवा, सिद्धि या प्रिय वचनों से चमत्कार तथा गहरा विश्वास प्राप्त कर किसी भी तरह का दान देता है, तो वह मोक्ष का कारण नहीं है।

१ °जंत तंत मंत 'म' 'व'। २. °परिचयणं 'म' 'व'। ३. °पीयवणं 'म'। ४. °पडुच्चा 'म' 'व'।

दाणीणं दालिद्दं[1] लोहीणं किं हवेइ[2] महसिरियं[3] ।
उहयाणं पुव्वज्जियकम्मफलं जाव[4] होइ थिरं ॥२८॥

दानिनां दारिद्र्यं लोभिना किं भवति महैश्वर्यं ।
उभयोः पूर्वाजित कर्मफलं यावत् भवति स्थिरं ॥२८॥

शब्दार्थ

दाणीणं—दानी (पुरुषों) के, **दालिद्दं**—दारिद्र्य (निर्धनता) (और); **लोहीणं**—लोभियो के; **महसिरियं**—महान् ऐश्वर्य, **किं**—क्यो; **हवेइ**—होता है ? **जाव**—जब तक, **उहयाणं**—(उन) दोनों के; **पुव्वज्जिय**—पूर्वाजित (पूर्व जन्म मे किये हुए); **कम्मफलं**—कर्मों का फल, **थिरं**—स्थिर; **होइ**—होना है।

वर्तमान : पूर्व कर्म का फल

भावार्थ—दानी पुरुष निर्धन क्यो देखे जाते है और लोभियों के महान् ऐश्वर्य क्यों होता है ? इस विचित्रता का कारण पूर्व जन्म में किये हुए कर्मो का फल है । जब तक पूर्व जन्म के अच्छे-बुरे कर्म अपना फल देकर बिखर नही जाते, तब तक अच्छे-बुरे कर्मो का फल बना रहता है ।

---

१. °दारिद्दं 'घ' 'प' । °दरिद्द 'म' । २. °हवे 'म' 'व' । ३ °महइमरिय 'अ' 'घ' 'प' 'फ' । °महासिरियं 'व' । °महाइमरीय 'म' । °महाइमरिय 'व' । ४. °याव 'प' । °जाणं 'अ' 'फ' ।

धण-धण्णाइ[1]समिद्धे[2] सुहं जहा होइ सव्वजीवाणं ।
मुणिदाणाइसमिद्धे[3] सुहं तहा तं विणा दुक्खं ।।२९।।

धनधान्यादौ समृद्धे सुखं यथा भवति सर्वजीवानाम् ।
मुनिदानादौ समृद्धे सुखं तथा तं विना दुःखम् ।।२९।।

शब्दार्थ

जहा—जिस प्रकार, **धण-धण्णाइ**—धन-धान्यादिक (की), **समिद्धे**—समृद्धि से; **सव्वजीवाणं**—सब जीवों के; **सुहं**—सुख; **होइ**—होता है, **तहा**—उसी प्रकार, **मुणिदाणाइ**—मुनिदानादि (की); **समिद्धे**—समृद्धि से; **सुहं**—सुख (होता है); **तं**—उसके; **विणा**—बिना; **दुक्खं**—दु:ख (होता है)।

दान से लौकिक सुख

भावार्थ—जैसे कृषि आदि सांसारिक कार्यों को करने से व धन-धान्यादिक वैभव प्राप्त होने से सभी लोगों को सुख-मिलता है, वैसे ही मुनि को दान देने से लौकिक सुख प्राप्त होता है । दान आदिक के विना मनुष्य दुखी होता है ।

---

१ °धणधण्णां 'म' 'व' । २ °समिद्धे 'अ' 'प' 'म' 'व' । °समिद्धो 'ग' 'ब' । ३. °समिद्धो 'ग' 'ब' । °समिद्धे 'अ' 'प' 'फ' 'म' 'व' ।

पत्तविणा दाणं य सुपुत्तविणा बहुधणं महाखेत्तं ।
चित्तविणा वयगुणचारित्तं णिक्कारणं[1] जाणे[2] ।।३०।।

पात्र विना दान च सुपुत्र विना बहुधनं महाक्षेत्रम् ।
चित्तं विना व्रतगुणचारित्रं निष्कारणं जानीहि ।।३०।।

शब्दार्थ

पत्तविणा—पात्र के बिना, **दाणं**—दान, **सुपुत्तविणा**—सुपुत्र के बिना, **बहुधणं**—बहुत धन, **य**—और; **महाखेत्तं**—बड़े खेत, (तथा) **चित्तविणा**—भाव के बिना; **वयगुणचारित्तं**—व्रत, गुण, चारित्र; **णिक्कारणं**—निष्फल; **जाणे**—जानो।

यथा भाव तथा कार्य

भावार्थ—जिस प्रकार सुपुत्र के बिना बहुत धन और बड़े-बड़े खेतों का होना व्यर्थ है, उसी प्रकार अच्छे पात्र के बिना दान देना भी निरर्थक है। इसी प्रकार भावों के बिना व्रत, गुण और चारित्र का पालन भी निष्फल है।

१. °निक्कारणं 'प' 'फ'। २. °जाण 'म' 'व'।

जिण्णुद्धार-पइट्ठा[1]-जिणपूया[2]-तित्थवंदण-सेसधणं[3] ।
जो[4] भुंजइ सो भुंजइ जिणुद्दिट्ठं णिरयगइ[5]दुक्खं ।।३१।।

जीर्णोद्धारप्रतिष्ठा जिनपूजा तीर्थवंदनशेषधनम् ।
यो भुक्ते स भुंक्ते जिनोद्दिष्टं नरकगतिदुःखम् ।।३१।।

शब्दार्थ

जो—जो (व्यक्ति); **जिण्णुद्धार-पइट्ठा**—जीर्णोद्धार, प्रतिष्ठा; **जिणपूया**—जिनपूजा, **तित्थवंदण**—वन्दनीय तीर्थ (क्षेत्र के); **सेसधणं**—अवशिष्ट धन (को); **भुंजइ**—भोगता है, **सो**—वह; **णिरयगइदुक्खं**—नरकगति के दुःख को; **भुजइ**—भोगता है (ऐसा), **जिणुद्दिट्ठं**—सर्वज्ञ ने कहा है।

धर्मस्थान का द्रव्य न भोगे

भावार्थ—जो मनुष्य जिनमन्दिर के जीर्णोद्धार, प्रतिष्ठा, जिनपूजा, क्षेत्र का बचा हुआ या बचाया हुआ धन भोगता है, वह नरकगति के दुःखों को भोगता है, ऐसा जिनदेव ने अपने ज्ञान में देख कर बताया है।

१. °पतिट्ठा 'ग'। °पदिट्ठा 'म' 'व'। २. °पूजा 'अ' 'ग' 'घ' 'प' 'ब' 'म' 'व'। ३. °विसयधण 'म' 'व'। ४. °यो 'ब'। ५. °णरइगइ 'घ'। °णिरयगड 'अ' 'प' 'फ' 'ब'।

पुत्त-कलत्तविदूरो[1] दालिद्दो पंगु मूक[2] बहिरंधो ।
चांडालाइकुजाई[3] पूयादाणाइ[4] दव्वहरो ।।३२।।

पुत्रकलत्रविदूरो दरिद्रः पंगु मूकः बधिरोऽन्धः ।
चांडालादिकुजातिः पूजादानादिद्रव्यहरः ।।३२।।

शब्दार्थ

पूयादाणाइ—पूजा, दान, आदि (के); **दव्वहरो**—द्रव्य को हरने वाला, **पुत्तकलत्तविदूरो**—पुत्र-स्त्री रहित; **दालिद्दो**—दरिद्री, **पंगु**—लंगडा, **मूक**—गूगा, **बहिरंधो**—बहरा, अंधा (और), **चांडालाइ**—चाण्डाल आदिक; **कुजाई**—कुजाति (मे), (उत्पन्न होते हैं।)

और

भावार्थ—पूजा, दान आदि के द्रव्य को हरने वाला व्यक्ति पुत्र-स्त्री से हीन दरिद्री, गूंगा, बहरा, अन्धा और चाण्डाल आदि नीच जातियों में जन्म लेता है ।

१ °दारिद्दो 'म' 'व' । २ °मूग 'म' 'व' । ३. °कुजादो 'म' 'व' । ४. °पूजादाणाइ 'म' 'व' ।

गयहत्थपायणासिय[1] कण्णउरंगुलविहीणदिट्ठीए[2] ।
जो तिव्वदुक्खमूलो पूयादाणाइ[3] दव्वहरो ।।३३।।

गतहस्तपादनासिक-कर्णोर्वङ्गुल विहीनो दृष्ट्या ।
यस्तीव्रदु:खमूल: पूजादानादिद्रव्यहर: ।।३३।।

शब्दार्थ

जो—जो (पुरुष); **पूयादाणाइ**—पूजा, दानादि, (का), **दव्वहरो**—द्रव्य हरने वाला (है) (वह); **गयहत्थपायणासिय**—हाथ, पैर, नाक; **कण्णउरंगुल**—कान, छाती और अँगुली (से); **विहीणदिट्ठीए**—दृष्टिहीन (अन्धा); **तिव्वदुक्खमूल**—तीव्र दु:खों के कारणभूत (होते हैं)।

दु:ख के कारण है

भावार्थ—जो व्यक्ति पूजा,दान आदि के निमित्त दिए गए द्रव्य का उपयोग अपने लिए करते हैं, वे विकलांग (हाथ-पैर, नाक, कान, दृष्टि आदि से हीन) होते हैं और अनेक कष्ट भोगते हैं ।

१. °नासिय 'घ' 'प' 'ब'। २ °दिट्ठीय 'अ' 'घ' 'प' 'फ'। °दिट्ठीया 'म' 'व'। ३. °पूजादाणाइ 'म'।

खयकुट्ठ[1]मूलसूलो लूय[2]भयंदरजलोयरक्खि[3]सिरो ।
सीदुण्हवाहिराई[4] पूयादाणंतराय[5]कम्मफलं ।।३४।।

क्षयकुष्ठमूलशूललूता भगन्दरजलोदराक्षिशिर–
शीतोष्णव्याधिराजि: पूजादानान्तरायकर्मफलं ।।३४।।

शब्दार्थ

खयकुट्ठमूलसूलो—क्षय, कुष्ठ, मूल, शूल; **लूयभयंदर**—लूता (मकडी से होनेवाला रोग), भगंदर, **जलोयरक्खिसिरो**—जलोदर, नेत्र, शिर, **सीदुण्ह**—शीत, उष्ण, **वाहिराई**—व्याधिराजि; **पूयादाणंतराय**—पूजा (और) दानान्तराय, **कम्मफलं**—कर्मफल (हैं) ।

अनेक रोग

भावार्थ—जो लोग पूजा, दान के शुभ कार्यों में विघ्न डालते है वे क्षय, कुष्ठ, मूल, शूल, लूता, (मकड़ी), भगंदर, जलोदर, नेत्र–शिरोरोग, शीत, उष्णादि अनेक रोगों से पीड़ित हो जाते हैं ।

---

१. °कुट्ठि 'व'। °कुट्ठि 'प' 'फ'। °कुट्ठी 'म'। २. °लूइ 'म' 'व'। ३ °जलोयरक्खि 'म' 'व'। ४. °बम्हगई 'म' 'व'। ५. °पूजादाणनराय 'व'। °पूयादाणातराय 'प' 'फ' ।
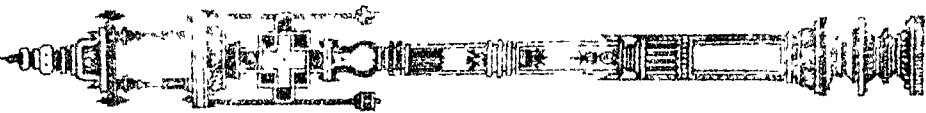
सम्मविसोहीतवगुणचारित्त[1] सण्णाणदाणपरिहीणं[2] ।
भरहे दुस्समयाले मणुयाणं जायदे णियदं ।।३५।।

सम्यक्त्वविशुद्धिस्तपोगुणचारित्रसज्ज्ञानदानपरिहीनां ।
भरते दुःषमकाले मनुजानां जायते नियतम् ।३५।।

शब्दार्थ

(इस) **दुस्समयाले**—दु.खम काल मे, **भरहे**—भरत (क्षेत्र) मे, **मणुयाणं**—मनुष्यो के; **णियदं**—निश्चय (ही), **सम्मविसोही**—सम्यक् (दर्शन) विशुद्धि; **तवगुणचारित्त**—तप, मूलगुण, चारित्र; **सण्णाणदाण**—सम्यग्ज्ञान, दान (मे), **परिहीणं**—हीन (ता); **जायदे**—होती (है)।

दान से होते हैं

भावार्थ—वर्तमान काल मे इस क्षेत्र में निश्चय ही मनुष्य के सम्यग्दर्शन की विशुद्धता, तप, मूलगुण, चारित्र, सम्यग्ज्ञान और दान में हीनता देखी जाती है ।

१ °चारित्तं 'म' 'व'। २.°परिहीणो 'ग' 'घ' 'ब'।
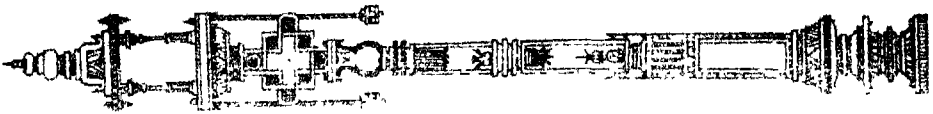
णहि दाणं णहि पूया[1] णहि सीलं णहि गुणं ण चारित्तं ।
जे[2] जइणा[3] भणिया ते णेरइया कुमाणुसा होंति[4] ।।३६।।

न हि दान न हि पूजा न हि शीलं न हि गुणो न चारित्रं ।
ये यतिना भणितास्ते नारका कुमानुषा भवन्ति ।।३६।।

शब्दार्थ

जे—जो (मनुष्य), **दाणं**—दान **णहि**—नही (देते); **पूया**—पूजा, **णहि**—नही (करते), **सीलं**—शील, **णहि**—नहीं (पालने); **गुणं**—गुण; **णहि**—नही (धारण करते), **चारित्तं**—चारित्र; **ण**—नही (पालते); **ते**—वे (अगले जन्म मे), **णेरइया**—नारकी; **कुमाणुसा**—खोटे मनुष्य (और); **तिरिया**—तिर्यंच; **हुंति**—होते हैं (ऐसा); **जइणा**—जिन (तीर्थंकर)ने, **भणिया**—कहा (है)।

दानादि के बिना अच्छी गति नहीं

भावार्थ—जो मनुष्य कभी दान नही देते, पूजा नही करते, शील नही पालते, गुण और चारित्रवान नही हैं, वे अगले जन्म में नारकी, खोटे मनुष्य तथा तिर्यञ्च होते है, ऐसा जिन-तीर्थंकर ने कहा है ।

१. °पूजा 'अ' 'ग' 'घ' 'प' 'फ' 'ब' 'म' 'व' । २. °जइ 'अ' 'फ' 'म' 'व' । ३. °जइणं 'अ' 'फ' 'म' 'व' । ४. °होंति कुमाणुसा तिरिया 'अ' 'घ' 'प' 'फ' 'म' 'व' ।
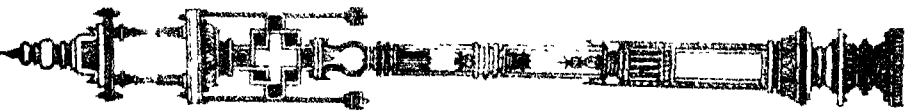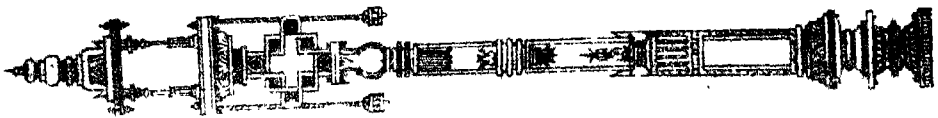
णवि जाणइ कज्जमकज्जं सेयमसेयं य पुण्णपावं[1] हि ।
तच्चमतच्चं धम्ममधम्मं सो सम्मउम्मुक्को[2] ॥३७॥

नापि जानाति कार्यमकार्यं श्रेयोऽश्रेयश्च पुण्यपापं हि ।
तत्त्वमतत्त्वं धर्ममधर्मं स सम्यक्त्वोन्मुक्तः ॥३७॥

शब्दार्थ

(जो) **कज्जमकज्जं**—कार्य-अकार्य, **सेयमसेयं**—श्रेय-अश्रेय, **पुण्णपावं**—पुण्य-पाप को; **तच्चमतच्चं**—तत्त्व-अतत्त्व को; **य**—और; **धम्मधम्मं**—धर्म-अधर्म को; **हि**—निश्चय (से); **णवि**—नही; **जाणइ**—जानता (है); **सो**—वह; **सम्म**—सम्यक्त्व (से); **उम्मुक्को**—उन्मुक्त (है)।

विवेकी ही सम्यक्त्ववान्

भावार्थ—जो व्यक्ति कार्य (क्या करना चाहिए), अकार्य (क्या नही करना चाहिए), श्रेय (भला), अश्रेय (बुरा), पुण्य-पाप और धर्म-अधर्म को निश्चय से नही जानता है, वह सम्यक्त्व से रहित है ।

१. °पुण्णपावा 'म' । २ °उम्मुक्का 'म' ।

णवि जाणइ जोग्गमजोग्गं णिच्चमणिच्चं हेयमुवादेयं[1] ।
सच्चमसच्चं भव्वमभव्वं सो सम्मउम्मुक्को ।।३८।।

नापि जानाति योग्यमयोग्यं नित्यमनित्यं हेयमुपादेयम् ।
सत्यमसत्य भव्यमभव्य स सम्यक्त्वोन्मुक्तः ।।३८।।

शब्दार्थ

(जो मनुष्य) **जोग्गमजोग्गं**—योग्य-अयोग्य, **णिच्चमणिच्चं**—नित्य-अनित्य; **हेयमुवादेयं**—हेय-उपादेय; **सच्चमसच्चं**—सत्य-असत्य (और), **भव्वमभव्वं**—भव्य-अभव्य को, **णवि**—नही; **जाणइ**—जानता (है), **सो**—वह; **सम्म**—सम्यक्त्व (मे), **उम्मुक्को**—उन्मुक्त (है)।

लौकिक दृष्टि सम्यक्त्व नहीं

भावार्थ—जो मनुष्य क्या योग्य है, क्या अयोग्य है, क्या नित्य व क्या अनित्य है, क्या छोड़ने योग्य और क्या ग्रहण करने योग्य है तथा क्या सत्य तथा क्या असत्य है, कौन भव्य है और कौन अभव्य है—यह नही जानता, वह सम्यक्त्व से रहित है ।

१. °हेउमुवादेयं 'अ' 'फ' ।

लोइयजणसंगादो[1] होइ मइमुहर[2]कुडिलदुब्भावो ।
लोइयसंगं तम्हा जोइवि तिविहेण मुंचाहो ॥३९॥

लौकिकजनसंगात् भवति मतिमुखरकुटिलदुर्भावः ।
लौकिकसंगं तस्मात् दृष्ट्वा त्रिविधेन मुञ्चतात् ॥३९॥

शब्दार्थ

लोइयजण—लौकिक जन (सामान्य) (की); **संगादो**—संगति से (मनुष्य); **मइमुहर**—मुखर मति; **कुडिल**—कुटिल (और); **दुब्भावो**—दुर्भावना (युक्त); **होइ**—हो जाता (है); **तम्हा**—इसलिए; **जोइवि**—देख (भाल) कर, **लोइयसंगं**—लौकिक संग को; **तिविहेण**—तीनो प्रकार मे (मन, वचन, कर्म से), **मुंचाहो**—छोडना चाहिए ।

लौकिकता में न पड़ें

भावार्थ—जो लोग सामान्य जन की संगति करते हैं, वे वाचाल, कुटिल और दुर्भावना युक्त हो जाते है, इसलिए देख-भाल कर मन, वचन और कर्म मे लौकिक संग को छोड़ देना चाहिए ।

१. °संघादो 'ब' 'म' 'व' । °संघानो 'घ' । °संघट्टे 'अ' 'फ' । २ °महामुहुर 'म' 'व' । °महामुहर 'अ' 'प' ।

उग्गो तिव्वो दुट्ठो दुब्भावो[1] दुस्सुदो दुरालावो[2] ।
दुम्मइरदो[3] विरुद्धो[4] सो जीवो सम्मउमुक्को ।।४०।।

उग्रस्तीव्रो दुष्टो दुर्भावो दु:श्रुतो दुरालापः ।
दुर्मतिरतो विरुद्धः स जीवो सम्यक्त्वोन्मुक्तः ।।४०।।

शब्दार्थ

(जो) **उग्गो**—उग्र, **तिव्व**—तीव्र, **दुट्ठो**—दुष्ट (स्वभावी), **दुब्भावो**—दुर्भावना (युक्त); **दुस्सुवो**—दु:श्रुत (कुज्ञानी); **दुरालावो**—दुष्टभाषी, **दुम्मइरदो**—दुर्मति (में) रत, **विरुद्धो**—विरुद्ध (धर्म के); **सो**—वह, **जीव**—प्राणी, **सम्म**—सम्यक्त्व (से), **उम्मुक्को**—उन्मुक्त (है) ।

खोटे भावों वाला सम्यक्त्वी नहीं

भावार्थ—जो मनुष्य उग्र, तीव्र, दुष्ट स्वभाव वाला है और खोटी भावनाएं करता रहता है तथा जो कुज्ञानी, दुष्टभाषी, खोटी बुद्धि वाला और धर्म के विरुद्ध है,वह प्राणी सम्यक्त्व से रहित है ।

१. °दुब्भाओ 'अ' 'घ' 'प' 'फ' । २. °दुरालाओ 'अ' 'घ' 'प' 'फ' । ३. °दुम्मदरदो 'अ' 'प' 'फ' 'ब' 'म' 'व' । ४. विसुद्धो 'अ' 'प' 'फ' ।

खुद्दो रुद्दो रुट्ठो अणिट्ठपिसुणो सगव्वियोसूयो[1] ।
गायणजायणभंडण दुस्सण[2]सीलो दुसम्मउम्मुक्को ।।४१।।

क्षुद्रो रुद्रो रुष्टो अनिष्टपिशुनः सर्गावितोऽसूयः ।
गायनयाचनभण्डनदूषणशीलस्तु सम्यक्त्वोन्मुक्तः ४१।।

शब्दार्थ

(जो) **खुद्दो**—क्षुद्र, **रुद्दो**—रौद्र; **रुट्ठ**—रुष्ट (प्रकृति के हैं); **अणिट्ठ**—अनिष्ट (करने वाले); **पिसुणो**—पिशुन (चुगलखोर); **सगव्विय**—सर्गावित (घमडी), **असूयो**—ईर्ष्यालु; **गायण**—गायन (करने वाले), **जायण**—याचना; **भंडण**—कलह (करने वाले); **दुस्सणसीलो**—दोष देने वाले; **दु**—तो (भी); **सम्म**—सम्यक्त्व (से); **उम्मुक्को**—उन्मुक्त (हैं)।

दुःस्वभावी सम्यक्त्वी नहीं

भावार्थ—जो मनुष्य प्रकृति मे क्षुद्र, रौद्र, रुष्ट, अनिष्टकारक, चुगली करने वाला, घमंडी, ईर्ष्यालु, गाने-माँगने वाला, लडाई-झगड़ा करने वाला और दोष देने वाला है, वह सम्यक्त्व मे रहित है ।

१. °सग्गव्वियोसूयो 'अ' 'घ' 'प' 'फ' । °मगव्भियो 'म' 'व' । °मगव्भियो 'व' । २. °दूसण 'अ' 'प' 'फ' 'व' । °दूयण 'म' ।

वाणर - गद्दह - साण[1] गय[2] - वग्घ - वराहकराह[3] ।
पक्खि[4] जलूय - सहावणर[5] जिणवरधम्म[6] - विणासु ॥४२॥

वानरगर्दभश्वानगजव्याघ्रवराह – कच्छपाः ।
पक्षिजलौकस्वभावो नरः जिनवरधर्मविनाशकः ॥४२॥

शब्दार्थ

वाणर—बन्दर, **गद्दह**—गधा, **साण**—श्वान (कुत्ता); **गय**—गज (हाथी); **वग्घ**—व्याघ्र (बाघ), **वराह**—शूकर, **कराह**—कच्छप, **पक्खि**—पक्षी, **जलूय**—जलौका (जोक), **सहाव**—स्वभाव (वाले); **णर**—मनुष्य, **जिणवर**—जिनवर (के); **धम्म**—धर्म (का), **विणासु**—विनाश (करने वाले है)।

अज्ञान और अज्ञानियों से धर्म नाश

भावार्थ—जो मनुष्य वन्दर, गधा, कुत्ता, हाथी, बाघ, सूअर, कछुआ और पक्षी तथा जोक के स्वभाव वाले होते है, वे जिनेन्द्रदेव के धर्म का विनाश करते हैं।

१. °सुण 'अ'। २. °गया 'अ' 'फ' 'म' 'व'। ३. °कराह 'व'। °सग्ह 'ग'। °कराहा 'म' 'व'। ४. °मक्खि 'ग' 'घ' 'म'। ५ °णरा 'अ' 'ग' 'घ' 'फ' 'म'। ६. °धम्मु 'व'।

सम्मविणा सण्णाणं सच्चारित्तं ण होइ णियमेण ।
तो रयणत्तयमज्झे सम्मगुणक्किट्ठमिदि जिणुद्दिट्ठं ।।४३।।

सम्यक्त्वं विना सज्ज्ञानं सच्चारित्रं न भवति नियेमन ।
ततो रत्नत्रयमध्ये सम्यक्त्वगुणोत्कृष्ट इति जिनुद्दिष्टं ।।४३।।

शब्दार्थ

सम्मविणा—सम्यग्दर्शन (के) बिना; **णियमेण**—नियम से; **सण्णाणं**—सम्यग्ज्ञान (और); **सच्चारित्तं**—सम्यक्‌चारित्र; **ण**—नही; **होइ**—होता (है), **तो**—तब (इसलिये); **रयणत्तय**—रत्नत्रय (के); **मज्झे**—मध्य मे; **सम्मगुणक्किट्ठमिदि**—सम्यक्त्व गुण उत्कृष्ट (है) ऐसा; **जिणुद्दिट्ठं**—जिनेन्द्रदेव (ने) कहा (है)।

सम्यक्त्व उत्कृष्ट है

भावार्थ—जिनेन्द्रदेव का कथन है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र में सम्यक्त्व गुण उत्कृष्ट है। क्योकि सम्यग्दर्शन के बिना निश्चय से सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र प्रकट नही होता।

तणुकुट्ठी[1] कुलभंगं कुणइ जहा मिच्छमप्पणो वि तहा ।
दाणाइ सुगुणभंगं[2] गइभंगं[3] मिच्छत्तमेव[4] हो कट्ठं ।।४४।।

तनुकुष्टी कुलभंग करोति यथा मिथ्यात्वमात्मनोऽपि तथा ।
दानादिसुगुणभंगं गतिभंग मिथ्यात्वमेव अहो ! कष्ट ।।४४।।

शब्दार्थ

जहा—जैसे, **तणुकुट्ठी**—शरीर (का) कोढी, **कुलभंगं**—(अपने) वश को भग, **कुणइ**—कर देता (है), **तहा**—उसी प्रकार; **मिच्छमप्पणो**—मिथ्यात्वी अपना (आत्मा का कुलभग कर लेता है); **दाणाइ**—दानादि, **सुगुणभंगं**—सद्‌गुणो (को) नष्ट (करता है तथा); **गइभंगं**—(सद्) गति (का) विनाश, **वि**—भी, **हो**—अहो, **कट्ठं**—कष्ट (है) ।

मिथ्यात्व : कोढ़

भावार्थ—जिस प्रकार शरीर में कोढ़ हो जाने पर मनुष्य अपने वश को (रक्त के सम्बन्ध के कारण) भंग कर देता है, उसी प्रकार मिथ्यात्वी (अन्धविश्वासी) अपने आत्मा के कुल को भंग कर देता है अर्थात् सदा के लिए उससे दूर हो जाता है । इतना ही नही, वह दानादि सद्‌गुणों का तथा सद्‌गति का भी विनाश कर देता है । अहो ! कष्ट है ।

१. °यह शब्द नहीं है 'म' । २. °भग्ग 'म' 'व' । ३. °भग्गं 'म' 'व' । ४. °मिच्छमेव 'अ' 'ग' 'फ' 'म' 'व' ।

देवगुरुधम्मगुणचारित्तं तवायार[1] मोक्खगइभेयं ।
जिणवयणसुदिट्ठिविणा दीसइ[2] किह[3] जाणए सम्मं ।।४५।।

देवगुरुधर्मगुणचारित्रं तपाचारं मोक्षगतिभेदम् ।
जिनवचनसुदृष्टि विना दृश्यते कथं ज्ञायते सम्यक्त्वं ।।४५।।

शब्दार्थ

देवगुरुधम्म—देव, गुरु, धर्म, **गुण चारित्तं तवायार**—गुण, चारित्र, तपाचार, **मोक्खगइभेयं**—मोक्ष-गति (के) रहस्य (को तथा); **जिणवयण**—जिनवाणी (को); **सुदिट्ठि**—सम्यग्दृष्टि (के), **बिणा**—बिना; **किह**—कैसे, **दीसइ**—देखता (सकता है), **सम्मं**—सम्यक् (दृष्टि), **जाणए**—जानता (है)।

आगमदृष्टि से सम्यक्त्व

भावार्थ—देव, गुरु, धर्म, गुण, चारित्र, तप, आचार, मोक्ष-गति के रहस्य को तथा जिनवाणी को सम्यग्दृष्टि के सिवाय कोई नही जान सकता। अतः सम्यक्त्वी की व्यावहारिक परख के लिए उक्त गुणों को जानना चाहिए।

१. °तवासार 'घ' 'प' 'ब'। २. °दिस्सइ 'म' 'व'। ३. °किं 'अ' 'घ' 'प' 'फ' 'म' 'व'।

एक्कु खणं ण विंचितइ मोक्खणिमित्तं णियप्पसाहावं[1] ।
अणिसं चिंतइ[2] पावं बहुलालावं मणे विंचितेइ[3] ॥४६॥

एकं क्षणं न विचिन्तयति मोक्षनिमित्तं निजात्मस्वभावं ।
अनिशं चिन्तयति बहुलालापं मनसि विचिन्तयति ॥४६॥

शब्दार्थ

(यह जीव) **मोक्ख**—मोक्ष (प्राप्ति में); **णिमित्तं**—निमित्त; **णियप्प**—निज आत्मा (के); **साहावं**—स्वभाव को; **एक्कु**—एक, **खणं**—क्षण (मात्र); **ण**—नहीं; **विंचितइ**—चिन्तवन करता (है); **अणिसं**—रात-दिन, **पावं**—पाप (का), **चिंतइ**—चिन्तन करता (है); **बहुलालावं**—बहुत बोलता (है और); **मणे**—मन में; **विंचितेइ**—चिन्तन करता (है)

पापी अनर्थ में फँसा है

भावार्थ—मनुष्य मुक्ति की प्राप्ति में निमित्त अपने आत्मा के स्वभाव को क्षणभर के लिए भी नहीं ध्याता है; केवल रात-दिन पाप का चिन्तन करता रहता है। उसी की बहुत चर्चा करता है और मन में उसका ही चिन्तन करता है।

१. °सहावं 'अ' 'घ' 'फ' 'ब' 'म' 'व'। २. °विचिन 'अ' 'घ' 'फ' 'ब' 'व'। °विंचिन 'म'।
३. °विचिनेइ 'म'।

मिच्छामइ[1]मयमोहासवमत्तो बोलए[2] जहा[3] भुल्लो ।
तेण ण जाणइ अप्पा अप्पाणं सम्मभावाणं[4] ।।४७।।

मिथ्यामतिमदमोहासवमत्तः वदति यथा विस्मृतः ।
तेन न जानाति आत्मा आत्मानं साम्यभावान् ।।४७।।

शब्दार्थ

मिच्छामइ—मिथ्यामति (वाला); **मय**—मद; **मोहासव**—मोह (रूपी) आसव (से); **मत्तो**—पागल (हुआ); **जहा**—जिस प्रकार (अपने को); **भुल्लो**—भूला हुआ (कुछ भी); **बोलए**—बकता (है) (उसी प्रकार); **तेण**—उस से (मोह के कारण); **अप्पा**—आत्मा (अपनी); **अप्पाणं**—आत्मा को (और); **सम्मभावाणं**—साम्य भाव को; **ण**—नही, **जाणइ**—जानता (है)।

अपने को भूला हुआ है

भावार्थ—अन्धविश्वासी (तत्त्व को न जानने के कारण) अपने को भूल कर मोह रूपी शराब में पागल होकर कुछ भी कहता रहता है और अपनी आत्मा को तथा साम्यभाव को नही जानता है ।

---

१. °मिच्छामय 'अ' 'फ' । २. °बोल्लइ 'घ' 'म' । °वोल्लइ 'य' । °बोल्लये 'ब' । ३. °जहो 'अ' 'घ' 'ब' 'य' । ४. °मव्वभावाणं 'घ' 'प' ।

पुव्वट्ठियं खवइ कम्मं पविसुदु[1] णो[2] देइ अहिणवं कम्मं ।
इहपरलोयमहप्पं देइ[3] तहा उवसमो भावो ॥४८॥

पूर्वस्थितं क्षपयति कर्म प्रवेष्टु न ददाति अभिनवं कर्म ।
इहपरलोकमाहात्म्यं ददाति तथा उपशमो भावः ॥४८॥

शब्दार्थ

उवसमो—उपशम, **भावो**—भाव, **पुव्वट्ठियं**—पूर्वस्थित; **कम्मं**—कर्म (का); **खवइ**—क्षय करता (है) (तथा); **अहिणवं**—अभिनव (नवीन), **कम्मं**—कर्म को, **पविसुदु**—प्रविष्ट होने; **णो**—नही, **देइ**—देता (है); **तहा**—तथा, **इह**—इस (लोक मे); **परलोय**—पर लोक (मे); **महप्पं**—माहात्म्य; **देइ**—देता (प्रकट करता है)।

नए कर्म नहीं लगते

भावार्थ—मोहनीय कर्म का उपशम भाव पूर्व मे स्थित कर्म का क्षय करता है और नए कर्म को प्रविष्ट नही होने देता है। इस उपशम भाव से इस लोक में और पर लोक में माहात्म्य प्रकट होता है।

१. °पविसुदु 'अ' 'घ' 'प' 'फ'। °पग्सुदु 'ग' 'ब'। °पविसदु 'म' 'व'। २. °णा 'घ'। °य 'म' 'व'।
३. °देहि 'म' 'व'।

अज्जवसप्पिणि[1] भरहे पउरारुद्दट्ठज्झाणयादिट्ठा ।
णठा दुट्ट्ठा कट्ठा पापिट्ठा[2] किण्हणीलकाऊदा[3] ॥४९॥

अद्यावसर्पिणीभरते प्रचुरा रौद्रार्तध्याना द्रष्टाः ।
नष्टाः दुष्टाः कष्टाः पापिष्ठाः कृष्णनीलकापोताः ॥४९॥

शब्दार्थ

अज्जवसप्पिणि—आज (वर्तमान) अवसर्पिणी (काल मे), **भरहे**—भरत (क्षेत्र) में; **पउरा**—प्रचुर (अधिकतर); **रुद्दट्टज्झाणया**—रौद्र (और) आर्तध्यानी (तथा); **णट्ठा**—नष्ट; **दुट्ठा**—दुष्ट; **कट्ठा**—कष्ट; **पापिट्ठा**—पापी; **किण्हणील**—कृष्ण, नील (और), **काऊदा**—कापोत (लेश्या वाले); **दिट्ठा**—देखे (जाते हैं) ।

वर्तमान में

भावार्थ—भरत क्षेत्र में आज भी अधिकतर आर्त-रौद्रध्यानी तथा चारित्र से भ्रष्ट, दुष्ट, कष्टी, पापी, जीव कृष्ण-नील-कापोत लेश्या वाले देखे जाते हैं ।

१. °अज्जवसप्पिणि 'म' 'व' । २. °पाविट्ठा 'ग' 'घ' 'फ' 'ब' । ३. °कावोदा 'म' 'व' ।

अज्जवसप्पिणि[1] भरहे पंचमयाले[2] मिच्छपुव्वया सुलहा ।
सम्मत्तपुव्वसायारणयारा[3] दुल्लहा होंति ॥५०॥

अद्यावसर्पिणीभरते पञ्चमकाले मिथ्यात्वपूर्वकाः सुलभाः ।
सम्यक्त्वपूर्वकाः सागारानगारा दुर्लभा भवंति ॥५०॥

शब्दार्थ

अज्जवसप्पिणि—आज (वर्तमान मे) : अवसर्पिणी (काल मे); **भरहे**—भरत (क्षेत्र मे); **पंचमयाले**—पंचम काल मे, **मिच्छपुव्वया**—मिथ्यादृष्टि (जीव); **सुलहा**—सुलभ (हैं); (किन्तु); **सम्मत्तपुव्व**—सम्यग्दृष्टि वाले; **सायारणयारा**—गृहस्थ (और) मुनि; **दुल्लहा**—दुर्लभ; **होंति**—होते है।

पापी सुलभ हैं

भावार्थ—वर्तमान हीयमान पंचम काल में इस भरत क्षेत्र में मिथ्यादृष्टि जीव सुलभ रहेंगे, किन्तु सम्यग्दृष्टि मुनि और गृहस्थ दुर्लभ होंगे।

---

१. अवसप्पिणि ये 'म' 'व'। २. पंचमयाले 'अ' 'घ' 'प' 'फ' 'म' 'व'। ३. सायारणयार 'व'।
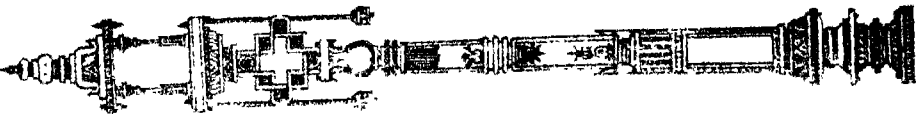
अज्जवसप्पिणिभरहे धम्मज्झाणं पमादरहिदोत्ति[1] ।
होदित्ति जिणुद्दिट्ठं णहु मण्णइ सो हु कुदिट्ठी[2] ।।५१।।

अद्यावसर्पिणीभरते, धर्मध्यानं प्रमादरहितमिति ।
भवेदिति जिनुद्दिष्टं न हि मन्यते सः हि कुदृष्टिः ।।५१।।

शब्दार्थ

अज्जवसप्पिणि—आज (वर्तमान मे) अवसर्पिणी (काल मे); **भरहे**—भरत (क्षेत्र मे), **धम्मज्झाणं**—धर्म-ध्यान, **पमादरहिदोत्ति**—प्रमाद रहित (होता है) ऐसा, **णहु**—नहीं; **मण्णइ**—मानता (है); **सो**—वह; **हु**—भी; **कुदिट्ठी**—मिथ्यादृष्टि; **होदित्ति**—होता (है) ऐसा ; **जिणुद्दिट्ठं**—जिनेन्द्रदेव ने कहा (है) ।

धर्म : प्रमादरहित

भावार्थ—इस वर्तमान काल मे जो यह मानते हैं कि प्रमादरहित धर्म-ध्यान नहीं होता है, वे भी मिथ्यादृष्टि होते हैं—ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है ।

---

१. *'पमादरहिदोत्ति 'ग' 'ब' 'प' 'फ' 'ब' 'म' 'व'। 'पमादरहियमिनि 'अ'।* २. *'सो हु कुदिट्ठी 'अ' 'घ' 'प' 'फ' 'ब' 'म' 'व'। 'मिन्छादिट्ठी हवे सोहु 'ग'।*

असुहादो णिरयाऊ[1] सुहभावादो दु सग्गसुहमाओ ।
दुहसुहभावं जाणइ[2] जं ते रुच्चेइ[3] तं कुज्जा[4] ॥५२॥

अशुभतो नरकायुष्य शुभभावतस्तु स्वर्गसुषमाः ।
दुःखसुखभावं जानीहि यत्तुभ्य रोचते तत्कुरु ॥५२॥

शब्दार्थ

असुहादो—अशुभ (भावो) से; **णिरयाऊ**—नरकायु (और), **सुहभावादो**—शुभ भावों से, **दु**—तो; **सग्गसुहमाओ**—स्वर्ग-सुख (मिलता है), (इसलिए) **दुहसुहभावं**—दुःख, सुख भाव को, **जाणइ**—जान (कर); **जं**—जो, **ते**—तुझे; **रुच्चेइ**—रुचे। **तं**—उसे; **कुज्जा**—कर।

भावों से गति

भावार्थ—अशुभ भावों से प्राणी को नरकायु और शुभ भावो से स्वर्ग-सुख प्राप्त होता है। इसलिए शुभ भाव सुख को देने वाला है और अशुभ भाव दुःख को, यह जान लेने पर जो रुचे वह करना चाहिए।

---

१. °णिरयादो 'अ'। °णिरयाई 'घ'। °णिरयाऊ 'म' 'व'। २. °जाणउ 'म' 'व'। ३. °जं ते रुच्चइ 'अ' 'घ'। °जं ते रुच्चेइ 'फ' 'ब'। °जत्ते मज्जे वि 'म' 'व'। ४. °तं कुज्जा 'अ' 'घ' 'फ' 'ब'। °तणं कुणहो 'ग' 'प'।

हिंसाइसु कोहाइसु मिच्छाणाणेसु पक्खवाएसु[1] ।
मच्छरिएसु मएसु[2] दुरिहिणिवेसेसु असुहलेसेसु[3] ।।५३।।

विकहाइसु[4] रुद्दट्टज्झाणेसु असुयगेसु[5] दंडेसु ।
सल्लेसु गारवेसु खाईसु जो वट्टए[6] असुहभावो ।।५४।।

हिंसादिषु क्रोधादिषु मिथ्याज्ञानेषु पक्षपातेषु ।
मत्सरितेषु मतेषु दुरभिनिवेशेषु अशुभलेश्यासु ।।५३।।

विकथादिषु रौद्रार्त्तध्यानेषु असूयकेषु दंडेषु ।
शल्येषु गारवेषु ख्यातिषु यो वर्तते अशुभभावः ।।५४।।

शब्दार्थ

हिंसाइसु—हिंसादि मे, **कोहाइसु**—क्रोधादि में, **मिच्छाणाणेसु**—मिथ्याज्ञान में, **पक्खवाएसु**—पक्षपात मे; **मच्छरिएसु**—मात्सर्य (भावों) में, **मएसु**—मदों मे; **दुरहिणिवेसेसु**—दुरभिमानों मे; **असुहलेसेसु**—अशुभ लेश्याओ में; **विकहाइसु**—विकथाओ मे, **रुद्दट्टज्झाणेसु**—रौद्र, आर्तध्यानों मे; **असुयगेसु**—ईर्ष्या-डाह मे, **दंडेसु**—असंयमों में; **सल्लेसु**—शल्यो मे; **गारवेसु**—मान-बढ़ाई मे; **खाईसु**—ख्याति आदि में; **जो वट्टए**—जो रहता (है वह), **असुहभावो**—अशुभभाव (है)।

अशुभ भावों के आश्रय

भावार्थ—हिंसा, क्रोध, विपरीत ज्ञान, पक्षपात, ईर्ष्या, अहंकार, दुरभिमान, अशुभ भावों, विकथाओं, आर्त-रौद्र ध्यानों, ईर्ष्या-डाह, असंयम, छल-कपट, मान-बढ़ाई, नामवरी आदि में जो लगा रहता है, वह सब अशुभ भाव है ।

१. °पक्खपाएसु 'म' 'व' । २. °मदेसु 'म' । °मदीषु 'व' । °णएसु 'अ' 'फ' । ३. °असुहलेस्सेसु 'म' 'व' । ४. °विकहासु 'म' 'व' । ५. °असूयगेसु 'व' । ६. °वट्टदे 'म' 'व' ।
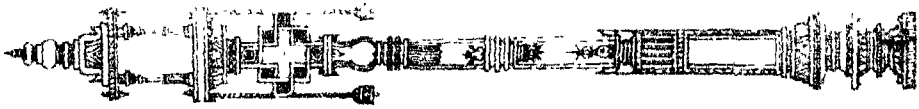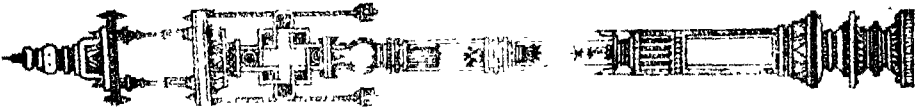
दव्वत्थिकाय-छप्पणतच्चपयत्थेसु सत्तणवएसु[1] ।
बंधणमोक्खे तक्कारणरूवे बारसणुवेक्खे[2] ॥५५॥
रयणत्तयस्सरूवे[3] अज्जाकम्मे[4] दयाइसद्धम्मे ।
इच्चेवमाइगो[5] जो वट्टइ सो होइ सुहभावो[6] ॥५६॥

द्रव्यास्तिकायषट्पंचतत्त्वपदार्थेषु सप्तनवकेषु ।
बधनमोक्षे तत्कारणरूपे द्वादशानुप्रेक्षासु ॥५५॥
रत्नत्रयस्वरूपे आर्यकर्मणि दयादिसद्धर्मे ।
इत्येवमादिके यो वर्तते स भवति शुभभावः ॥५६॥

शब्दार्थ

जो—जो (जीव); **छ-प्पण**—छह (और) पाँच, **दव्वत्थिकाय**—द्रव्य, अस्तिकाय, **सत्तणवएसु**—सात (और) नौ; **तच्चपयत्थेसु**—तत्त्व, पदार्थों मे, **बंधणमोक्खे**—बन्धन-मोक्ष मे, **तक्कारणरूवे**—मोक्ष के कारण रूप, **बारसणुवेक्खे**—बारह अनुप्रेक्षाओ मे; **रयणत्तयस्सरूवे**—रत्नत्रय स्वरूप में; **अज्जाकम्मे**—आर्य (श्रेष्ठ) कर्म मे; **दयाइसद्धम्मे**—दया आदि सद्धर्म में; **इच्चेवमाइगो**—इत्यादिक (मे); **वट्टइ**—वर्तन करता (है); **सो**—वह; **सुहभावो**—शुभभाव, **होइ**—होता (है)।

शुभ भावों के निमित्त

भावार्थ—जो मनुष्य छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व और नव पदार्थों को जानकर उनमें तथा बारह अनुप्रेक्षाओं, रत्नत्रय, शुभ कर्म तथा दयादि सद्धर्म मे वर्तन करता है, वह शुभ भाव होता है ।

१. सततणवगेसु 'फ' 'म' 'व' । २. अणुवेक्खे 'अ' 'प' 'फ' 'ब' । ३. रूवो 'ग' । ४. वज्जाकम्मे 'अ' 'प' 'फ' 'म' 'व' । अज्जाकम्मो 'ग' 'घ' । ५. इच्चेवणमाइगं 'म' 'व' । ६. सहमाव 'म' 'व' ।

धरियउ[1] बाहिरलिंगं परिहरियउ बाहिरक्खसोक्खं हि ।
करियउ किरियाकम्मं मरियउ[2] जंमियउ[3] बहिरप्पजिऊ[4] ॥५७॥

धृत्वा बाह्यं लिंगं परिहृत्य बाह्याक्षसौख्यं हि ।
कृत्वा क्रियाकर्म म्रियते जायते बहिरात्माजीवः ॥५७॥

शब्दार्थ

बहिरप्पजिऊ—बहिरात्मा जीव, **बाहिरलिंगं**—बाह्य वेश को; **धरियउ**—धारण (कर); **बाहिरक्खसोक्खं**—बाह्य इन्द्रियों के सुख को: **हि**—ही; **परिहरियउ**—छोड़ता (है) (और); **किरियाकम्मं**—क्रिया-काण्ड को, **करियउ**—करता (हुआ); **मरियउ**—मरता (है); **जंमियउ**—जन्म लेता (है)।

बाह्य वेश से

भावार्थ—बहिरात्मा जीव ससार मे केवल बाहरी वेश को धारण करता है और बाह्य इन्द्रियों के सुख को ही छोडता है। उसके अन्तरंग में विषय-लालसा बनी रहती है। इसलिए वह कर्म-काण्ड को करता हुआ बार-बार मरण करता है और बार-बार जन्म लेता है।

1. °धारियउ 'ब'। 2. °मरियउ 'अ' 'घ' 'फ' 'व'। °मरिऊ 'ब'। 3. °जम्मियउ 'प' 'फ'। °जंमियउ 'म' 'व'। °जमियउ 'घ'। 4. °बहिरप्पउ जीवो 'अ' 'फ'। °बहिरप्पउ जीओ 'घ'।

मोक्खणिमित्तं दुक्खं वहेइ परलोयदिट्ठि तणुदंडी[1] ।
मिच्छाभाव[2] ण छिज्जइ[3] किं पावइ मोक्खसोक्खं हि ॥५८॥

मोक्षनिमित्तं दुःखं वहति परलोकदृष्टिः तनुदण्डी ।
मिथ्यात्वभावान् न छिनत्ति कि प्राप्नोति मोक्षसौख्यं हि ॥५८॥

शब्दार्थ

परलोयदिट्ठि—परलोक पर दृष्टि (रखने वाला), **तणुदंडी**—देहाश्रित (बहिरात्मा), **मोक्खणिमित्तं**—मोक्ष के निमित्त; **दुक्खं**—दुःख, **वहेइ**—उठाता (है) (किन्तु उससे); **मिच्छाभाव**—मिथ्यात्व भाव, **ण**—नही; **छिज्जइ**—छीजता (है) (अतः), **मोक्खसोक्खं**—मोक्षसुख को, **हि**—निश्चय से, **किं पावइ**—क्या पाता है ?

परलोक दृष्टि से

भावार्थ—मिथ्यादृष्टि परलोक मे सुख पाने की इच्छा से दुःख वहन करता है, किन्तु मिथ्यात्व भाव का क्षय नही होने से निश्चय ही मोक्षसुख को प्राप्त नही करता ।

१. °तणुदंडी 'घ' 'प' 'फ' । °तणुदडे 'म' 'व' । २. °मिच्छाभाउ 'अ' 'घ' 'प' 'फ' । °मिच्छाभावो 'म' 'व' । ३. °णत्थि जइ 'म' 'व' ।

ण हु दंडइ कोहाइं देहं दंडेइ[1] कहं खवइ कम्मं ।
सप्पो किं मुवइ तहा वम्मीए[2] मारिए[3] लोए ।।५९।।

न हि दण्डयति क्रोधादीन् देहं दण्डयति कथं क्षिपेत् कर्म ।
सर्पः किं म्रियते तथा वल्मीके मारिते लोके ।।५९।।

शब्दार्थ

(यह जीव) **कोहाइं**—क्रोधादिको को, **ण हु**—नही ही, **दंडइ**—दण्ड देता (है) (किन्तु); **देहं**—शरीर को; **दंडइ**—पीड़ा देता (है) (इमसे); **कम्मं**—कर्मों (का); **कहं**—कैसे; **खवइ**—क्षय करता (सकता है), **किं**—क्या; **लोए**—लोक मे; **वम्मीए**—बाँबी (साँपके बिल) को; **मारिए**—मारने पर; **सप्पो**—साँप; **मुवइ**—मरता (है) ।

बाह्यप्रवृत्ति से आत्मलाभ नहीं

भावार्थ—यह प्राणी क्रोधादि कषायो को तो दंडित नहीं करता, किन्तु शरीर को दण्ड देता है। परन्तु इसमे कर्मों का क्षय नही होता। लोक में कही भी साँप के बिल को मारने से साँप मरता है ?

१. °दंडइ 'म' 'व'। २. °वम्मिए 'फ'। °वम्मीए 'म' 'व'। ३. °मारिए 'अ' 'ग' 'ब'। °मारए 'घ' 'प' 'फ' 'म' 'व'।

उवसमतवभावजुदो णाणी सो भावसंजुदो होई[1] ।
णाणी कसायवसगो असंजदो होइ सो ताव[2] ॥६०॥

उपशमतपोभावयुतो ज्ञानी स भावसंयुतो भवति ।
ज्ञानी कषायवशगोऽसंयतो भवति स तावत् ॥६०॥

शब्दार्थ

(जो) **णाणी**—ज्ञानी; **उवसमतवभावजुदो**—उपशम-तप-भाव से युक्त (है), **सो**—वह, **भावसंजुदो**—भाव (संयम से) सयुक्त, **होइ**—होता (है), (जब तक), **णाणी**—ज्ञानी, **कसायवसगो**—कषाय के वश (में होता है), **ताव**—तब तक; **सो**—वह, **असंजदो**—असंयत (असंयमी), **होइ**—होता (है)।

समभाव

भावार्थ—ज्ञानी मोह के उपशम होने से सम्यग्दर्शन से तथा तप से युक्त होता है। वह भाव संयमी होता है। ज्ञानी जब तक कषाय के वशीभूत रहता है, तब तक वह असंयमी रहता है।

१. °ताव सजदो 'म' 'ब'। °भवसुदो 'ब'। २. °भाव 'अ' 'प' 'फ'।
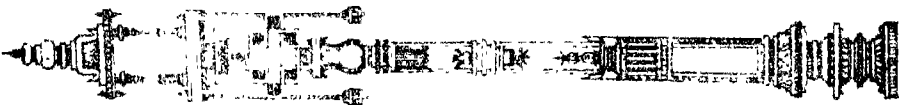
णाणी खवेइ कम्मं णाणबलेणेदि बोल्लए[1] अण्णाणी ।
वेज्जो[2] भेसज्जमहं[3] जाणे इदि णस्सदे वाही[4] ।।६१।।

ज्ञानी क्षपयति कर्म ज्ञानबलेनेति वदति अज्ञानी ।
वैद्यो भैषजमहं जानामीति नश्यते व्याधिः ।।६१।।

शब्दार्थ

णाणी—ज्ञानी, **णाणबलेण**—ज्ञान के बल से; **कम्मं**—कर्म (का); **खवेइ**—क्षय करता (है); **इदि**—इस प्रकार (जो); **बोल्लए**—बोलता (है वह); **अण्णाणी**—अज्ञानी (है), **भेसज्जमहं**—भैषज (का) मैं; **वेज्जो**—(ज्ञाता) वैद्य (हूँ); **इदि**—इस प्रकार; **जाणे**—जानने (से) (क्या); **वाही**—व्याधि, **णस्सदे**—नष्ट होती (है?)

मात्र ज्ञान से दुःख का नाश नहीं

भावार्थ—जो यह कहता है कि ज्ञानी ज्ञान के बल से कर्म का क्षय करता है, वह अज्ञानी है। मैं औषध का जानकार वैद्य हूँ, इतना जानने मात्र से क्या व्याधि नष्ट हो जाती है?

१. °बोलए 'ग'। °बोल्लइ 'प'। °बोल्लए 'अ' 'घ' 'प' 'फ' 'म' 'व'। २. °विज्जो 'अ' 'व' 'फ'। °पोज्जे 'घ' 'प'।। °वेज्जो 'म' 'व'। ३. °भेसजमहं 'अ' 'ग' 'घ' 'फ'। °वेगव्व महप्पं 'म'। ४. °वाहि 'अ' 'घ' 'फ' 'व'। °वाहीं 'म'। °वाही 'ग' 'प' 'ब'।
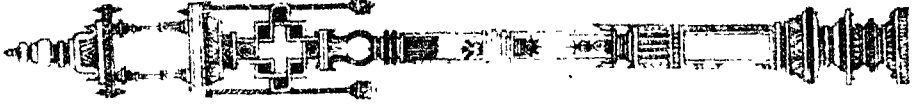
पुव्वं सेवइ मिच्छामलसोहणहेउ सम्मभेसज्जं ।
पच्छा सेवइ कम्मामयणासणचरियसम्मभेसज्जं ॥६२॥

पूर्वं सेवय मिथ्यात्वमलशोधनहेतुः सम्यक्त्वभैषजम् ।
पश्चात् सेवय कर्मामयनाशन चारित्रं सम्यग्भैषजम् ॥६२॥

शब्दार्थ

पुव्वं—पहले; **मिच्छामल**—मिथ्यात्व-मल (के); **सोहणहेउ**—शोधन हेतु; **सम्म**—सम्यक्त्व (रूपी); **भेसज्जं**—भैषज (का); **सेवइ**—सेवन करे; **पच्छा**—पश्चात्; **कम्मामय**—कर्म व्याधि (के); **णासण**—नाश (करने के) लिए, **चरियसम्म**—सम्यक्चारित्र (रूपी), **भेसज्जं**—भैषज (का), **सेवइ**—सेवन (करे)।

चारित्र : औषध

भावार्थ—नीरोगता प्राप्त करने के लिए प्रथम मिथ्यात्व-मल का शोधन कर सम्यक्त्व रूपी औषध का सेवन करना चाहिए। पश्चात् कर्म-रोग का नाश करने के लिए सम्यक्-चारित्र रूपी औषध का प्रयोग करना चाहिए।

अण्णाणी विसय विरत्तादो जो होइ सयसहस्सगुणो ।
णाणी कसायविरदो[1] विसयासत्तो जिणुद्दिट्ठं ॥६३॥

अज्ञानी विषयविरक्तात् यो भवति शतसहस्रगुणः ।
ज्ञानी कषायविरतो विषयासक्तः जिनोद्दिष्टम् ॥६३॥

शब्दार्थ

कसायविरदो—कषायों से विरक्त (तथा); **विसयासत्तो**—विषयों में आसक्त; **णाणी**—ज्ञानी (पुरुष के); **विसयविरत्तादो**—विषयों से विरक्त, **जो**—जो, **अण्णाणी**—अज्ञानी (है उस की अपेक्षा); **सयसहस्सगुणो**—लाख गुना (फल); **होइ**—होता (है ऐसा); **जिणुद्दिट्ठं**—जिनेन्द्रदेव ने कहा (है)।

विषयों से निवृत्ति : ज्ञानी

भावार्थ—जो मनुष्य विषयों से विरक्त है, पर अज्ञानी है; उसकी अपेक्षा कषायों से विरक्त तथा विषयों में आसक्त ज्ञानी पुरुष के लाख गुना फल होता है—ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

1. °विरत्तदो 'फ'। °विरत्तादो 'अ' 'घ' 'प'।

विणओ भत्तिविहीणो महिलाणं रोयणं[1] विणा णेहं ।
चागो वेरग्गविणा एदेदो[2] बारिया[3] भणिया ।।६४।।

विनयो भक्तिविहीनः महिलाना रोदनं विना स्नेहम् ।
त्यागो वैराग्यं विना एते वारिताः भणिताः ।।६४।।

शब्दार्थ

भत्तिविहीणो—भक्ति विहीन, **विणओ**—विनय, **महिलाणं**—स्त्रियों का, **णेहं**—स्नेह, **विणा**—बिना, **रोयणं**—रुदन (और), **वेरग्ग**—वैराग्य (के), **विणा**—बिना, **चागो**—त्याग, **एदेदो**—ये (सब); **बारिया**—निष्फल, **भणिया**—कहे गए (हैं)।

प्रवृत्तिमूलक त्याग

भावार्थ—भक्ति के बिना विनय व्यर्थ है, स्नेहहीन महिला का रुदन व्यर्थ है और वैराग्य के बिना त्याग निष्फल कहा गया है ।

---

१. °रोदण 'न' 'व' । २. °एदेडो 'ग' 'व' । °एदंदो 'घ' । °एदेदो 'अ' 'प' 'फ' 'ब' । °पडेडो 'म' ।
३. बारिया 'म' 'व' । °वारिया 'अ' 'प' 'फ' 'ब' । °वाहरिया 'ग' । व्वारिया 'घ' ।

सुहडो सूरत्तविणा महिला सोहग्गरहिय परिसोहा ।
वेरग्गणाणसंजमहीणा[1] खवणा ण किंवि[2] लब्भंते ।।६५।।

सुभट: शूरत्वं विना महिला सौभाग्यरहिता परिशोभा ।
वैराग्यज्ञानसंयमहीना क्षपणा न किमपि लभंते ।।६५।।

शब्दार्थ

सूरत्त—शूरता (के); **विणा**—बिना; **सुहड**—सुभट (योद्धा); **सोहग्ग**—सौभाग्य (से); **रहिय**—रहित; **महिला**—स्त्री (की); **परिसोहा**—शोभा (और); **वेरग्गणाण**—वैराग्य, ज्ञान, **संजम**—संयम (से); **हीणा**—हीन, **खवणा**—क्षपण (मुनि); **किंवि**—कुछ भी; **ण**—नहीं; **लब्भंते**—पाते (हैं)।

साधु भी

भावार्थ—शूरता के बिना योद्धा, सौभाग्य से शून्य महिला और वैराग्य, ज्ञान तथा संयम से हीन साधु शोभा प्राप्त नहीं करते। वास्तव में संयम ही साधुओं का धन है। इसके बिना कुछ भी नही है ।

१. °हीणं 'म'। २. °किंपि 'म' 'व'।

वत्थु[1]समग्गो मूढो लोही[2] लब्भइ[3] फलं जहा[4] पच्छा ।
अण्णाणी जो विसयासत्तो[5] लहइ तहा चेव ॥६६॥

वस्तुसमग्रो मूढो लोभी न लभते फलं यथा पश्चात् ।
अज्ञानी यो विषयासक्तो लभते तथा चैव ॥६६॥

शब्दार्थ

जहा –जैसे; **मूढो**—मूर्ख (और), **लोही**—लोभी (पुरुष); **समग्गो**—समग्र (सम्पूर्ण); **वत्थु**—वस्तुओं (को); **लब्भइ**—प्राप्त करता (है); **पच्छा**—पश्चात्; **फलं**—फल (की अभिलाषा करता है); **तहा**—वैसे; **चेव**—ही; **जो**—जो; **अण्णाणी**—अज्ञानी (और), **विसयासत्तो**—विषयासक्त (है वह); **लहइ**—प्राप्त करता (है)।

वाञ्छा, फल नहीं

भावार्थ—जिस प्रकार मूर्ख और लोभी मनुष्य संग्रह मात्र करता है, वह संग्रहीत पदार्थों के फल को प्राप्त नहीं कर पाता, वैसे ही अज्ञानी पुरुष विषयों में आसक्त रहने पर भी उनका फल (सुख) प्राप्त नही कर पाता; केवल अभिलाषा ही कर पाता है।

१. °वत्थ 'म'। २ °लोहिय 'ग' 'ब'। °लोही 'अ' 'घ' 'प' 'फ' 'म' 'व'। ३. °लब्भइ 'अ' 'घ' 'प' 'फ' 'म' 'व'। ४. °जा 'ग' 'घ' 'ब'। ५. °विसयासत्तो 'अ' 'प' 'फ' 'म' 'व'। °विसयपरिचत्तो 'ग' 'घ' 'ब'।

वत्थु[1]समग्गो णाणी सुपत्तदाणी[2] फलं जहा लहइ ।
णाणसमग्गो विसयपरिचत्तो लहइ तहा चेव ।।६७।।

वस्तुसमग्रो ज्ञानी सुपात्रदानी फलं यथा लभते ।
ज्ञानसमग्रो विषयपरित्यक्तो लभते तथा चैव ।।६७।।

शब्दार्थ

जहा—जैसे; **णाणी**—ज्ञानी (पुरुष); **समग्गो**—समग्र (सम्पूर्ण); **वत्थु**—वस्तु (को), **सुपत्तदाणी**—सुपात्र मे दान देने वाले दानी (के); **फलं**—फल को; **लहइ**—प्राप्त करता (है), **तहा**—वैसे; **चेव**—ही; **विसयपरिचत्तो**—विषयों को त्यागने वाला; **समग्गो**—समग्र (सम्पूर्ण); **णाण**—ज्ञान (के फल को); **लहइ**—प्राप्त करता (है)।

त्यागपूर्वक भोग

भावार्थ—जैसे ज्ञानी मनुष्य वस्तुओं का संग्रह कर लेने पर भी सुपात्र में दान देकर उसके फल को प्राप्त कर लेता है, वैसे ही ज्ञानी पुरुष विषयों का परित्याग कर सम्पूर्ण ज्ञान का फल प्राप्त कर लेता है।

---

१. वत्थ 'म'। २. सुपत्तदाणे 'प' 'फ'।

भू-महिला-कणयाई[1]-लोहाहि-विसहरो कहं पि हवे ।
सम्मत्तणाणवेरग्गोसहमंतेण[2] सह जिणुद्दिट्ठं ॥६८॥

भू-महिला-कनकादि-लोभाहिविषधरो कथमपि भवेत् ।
सम्यक्त्वज्ञानवैराग्यौषधमन्त्रेण सह जिनोद्दिष्टं ॥६८॥

शब्दार्थ

भू—भूमि; **महिला**—स्त्री; **कणयाई**—स्वर्ण आदि (के); **लोहाहि**—लोभ (रूपी) सर्प; विसहर—विषधर (को), **कहं पि**—किसी प्रकार, **सम्मत्तणाण**—सम्यक्त्व, ज्ञान, **वेरग्गोसह**—वैराग्य (रूपी) औषध, **मंतेण**—मन्त्र (के), **सह**—साथ (नष्ट किया जा सकता); **हवे**—है; **जिणुद्दिट्ठं**—(ऐसा) जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

लोभ-विषधर के निरोधार्थ सम्यक्त्व, ज्ञान, वैराग्य मन्त्र

भावार्थ—भूमि, स्त्री, स्वर्ण आदि का लोभ विषधर के समान दुःखदायी है, जिसे सम्यक्त्व ज्ञान, वैराग्य रूपी औषध तथा मन्त्र के द्वारा नष्ट किया जा सकता है—ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है ।

१. °कणया 'म' । °कणयाइ 'अ' 'प' 'फ' 'ब' । २. °सहसमंतेण 'म' । °समहमंतेण 'व' । °संजम तेण 'अ' 'फ'।

पुव्वं जो पंचेंदिय[1]तणु[2]मणुवचि हत्थपायमुंडाउ[3] ।
पच्छा सिरमुंडाउ[4] सिवगइपहणायगो[5] होइ ॥६९॥

पूर्वं य: पचेन्द्रियतनुमनोवचोहस्तपादमुण्ड: ।
पश्चात् शिरोमुंड: शिवगतिपथनायको भवति ॥६९॥

शब्दार्थ

जो—जो (साधु); **पुव्वं**—पहले; **पंचेंदिय**—पाँच इन्द्रियों; **तणु-मणु-वचि**—शरीर, मन, वचन; **हत्थपाय**—हाथ, पाँव (को); **मुंडाउ**—मुंडाता (है); **पच्छा**—बाद में; **सिरमुंडाउ**—सिर मुंडाता (केशलोंच करता है) (वह); **सिवगइ**—मोक्षमार्ग (का); **पहणायगो**—नेता; **होइ**—होता (है)।

मुंडन : योगों का

भावार्थ—जो व्यक्ति मुनि बनने के पूर्व अपनी पाँचों इन्द्रियों, मन, वचन, काय, हाथ पाँव को वश में कर लेता है, बाद में केशलोंच करता है, तो वह मोक्षमार्ग का नेता बनता है।

---

१. पंचिदिय 'अ' 'फ'। २. मण 'म' 'व'। ३. मुंडहरो 'अ' 'प' 'फ' 'म' 'व'। ४. मुंडहरो 'अ' 'प' 'फ' 'म' 'व'। ५. पय 'म' 'व'।

पति[1]भत्तिविहीण सदी[2] भिच्चो य[3] जिणभत्तिहीण[4] जइणो[5] ।
गुरुभत्तिविहीण सिस्सो दुग्गइमग्गाणुलग्गओ[6] णियमा[7] ।।७०।।

पतिभक्तिविहीना सती भृत्यश्च जिनभक्तिहीनो जैनः ।
गुरुभक्तिहीनः शिष्यो दुर्गतिमार्गानुलग्नो नियमात् ।।७०।।

शब्दार्थ

पतिभत्ति—पति (की) भक्ति (से). **विहीण**—विहीन; **सदी**—सती; **य**—और; **भिच्चो**—भृत्य (नौकर); **जिणभत्ति**—जिनेन्द्रदेव (की) भक्ति (से); **हीण**—हीन. **जइणो**—जैन (और); **गुरुभत्ति**—गुरु (की) भक्ति (से), **विहीण**—विहीन, **सिस्सो**—शिष्य; **णियमा**—नियम से; **दुग्गइ**—दुर्गति (के); **मग्गाणुलग्गओ**—मार्ग (में) लगे हुए (हैं)।

भक्ति बिना गति नहीं

भावार्थ—बिना भक्ति के सद्गति नही मिलती। पति की भक्ति से रहित सती और नौकर एवं जिनेन्द्रदेव की भक्ति से हीन जैन और गुरु की भक्ति से विहीन शिष्य नियम से दुर्गति के मार्ग में संलग्न है।

---

१. °पदि 'अ' 'घ' 'फ' 'व'। °पडि 'म'। २. °मती'ग'। ३. °मिच्चो'म'। °भुच्चो 'व'। ४. °हीणो 'अ' 'घ' 'प' 'फ' 'म'। °विहीण 'व'। ५. °जई 'ग' 'ब'। ६. °लग्गणो 'अ' 'ग' 'ब'। ७. °णियदं 'म'। °णियदो 'व'। °जीओ 'घ' 'प'।

गुरुभत्तिविहीणाणं सिस्साणं सव्वसंगविरदाणं ।
ऊसरखेत्ते[1] ववियं सुबीयसमं जाण[2] सव्वणुट्ठाणं ॥७१॥

गुरुभक्तिविहीनानां शिष्याणां सर्वसंगविरतानाम् ।
ऊषरक्षेत्रोप्तसुबीजसमं जानीहि सर्वानुष्ठानम् ॥७१॥

शब्दार्थ

गुरुभत्ति—गुरु (की) भक्ति (से); **विहीणाणं**—विहीन; **सिस्साणं**—शिष्यों के; **सव्वसंग**—सर्व परिग्रह (से), **विरदाणं**—विरत (होने पर भी); **सव्वणुट्ठाणं**—सब अनुष्ठान (जप, तप, आदि); **ऊसरखेत्ते**—ऊसर खेत में; **ववियं**—बोये (हुए); **सुबीयसमं**—उत्तम बीज (के) समान; **जाण**—जानो ।

और भी

भावार्थ—जैसे ऊसर खेत में बोया गया अच्छा बीज भी व्यर्थ जाता है, वैसे ही गुरु की भक्ति के बिना सब तरह के परिग्रह से विरक्त होने पर भी शिष्यों के जप, तप, आदि निष्फल होते हैं ।

१. उस्सरछेत्ते 'ब' । २. णाणं 'व'

रज्जं पहाणहीणं पति[1]हीणं देसगामरट्ठ[2]बलं ।
गुरुभत्तिहीण सिस्साणुट्ठाणं[3] णस्सदे[4] सव्वं ॥७२॥

राज्यं प्रधानहीनं पतिहीनं देशग्रामराष्ट्रबलं ।
गुरुभक्तिहीनशिष्यानुष्ठानं नश्यति सर्वम् ॥७२॥

शब्दार्थ

पहाणहीणं—प्रधान (राजा) (से) हीन; **रज्जं**—राज्य; **पतिहीणं**—पति (सेनापति) (से) हीन; **देसगामरट्ठबलं**—देश, ग्राम, राष्ट्र, सेना; (और); **गुरुभत्ति**—गुरु (की) भक्ति (से); **हीण**—हीन, **सिस्साणुट्ठाणं**—शिष्यो (के) अनुष्ठान; **सव्वं**—सब, **णस्सदे**—नष्ट हो जाते (है)।

तथा

भावार्थ—जैसे राजा के बिना राज्य और सेनापति के बिना देश, ग्राम, राष्ट्र, सैन्य, सुरक्षित नहीं रह पाते, वैसे ही गुरु की भक्ति के बिना शिष्यों के अनुष्ठान सफल नहीं होते।

१. °पदि 'म'। २. °रत्थ 'म'। ३ °सिस्साणुट्ठाणं 'घ'। ४. °विणस्सदे।

सम्मत्तविणा[1] रुई[2] भत्तिविणा दाणं दयाविणा धम्मो ।
गुरुभत्तिहीणतवगुणचारित्तं[3] णिप्फलं जाण ॥७३॥

सम्यक्त्वं विना रुचि भक्ति विना दानं दयां विना धर्मं ।
गुरुभक्तिहीनतपगुणचारित्रं निष्फलं जानीहि ॥७३॥

शब्दार्थ

सम्मत्तविणा—सम्यक्त्व (के) बिना; **रुई**—रुचि; **भत्तिविणा**—भक्ति (के) बिना; **दाणं**—दान; **दयाविणा**—दया (के) बिना; **धम्मो**—धर्म; (और) **गुरुभत्ति**—गुरु-भक्ति (से); **हीण**—हीन; **तवगुणचारित्तं**—तप, गुण, चारित्र; णिप्फलं—निष्फल; **जाण**—जानो।

सम्यक्त्व प्रधान है

भावार्थ—सम्यक्त्व के बिना धर्म में रुचि, भक्ति के बिना दान, दया के बिना धर्म और गुरुभक्ति के बिना तप, गुण तथा चारित्र निष्फल समझना चाहिए।

१. °सम्माण 'घ' 'म' 'व'। . °सम्माणय 'अ' 'ग' 'प' 'फ' 'ब'। २. °रूपा 'म'। . °रूपी 'ब'। ३. °विणा तवचरियं 'ग'। . °हीम वयगुणचारित्तं 'म'। °हीणतवगुणचारित्तं 'अ' 'घ' 'प' 'फ' 'ब'।

हीणादाण-वियार-विहीणादो बाहिरक्खसोक्खं[1] हि ।
किं तजियं किं भजियं किं मोक्खं[2] दिट्ठं[3] जिणुद्दिट्ठं ॥७४॥

हीनादानविचारविहीनात् वाह्यक्षसुखं हि ।
किं त्यक्तं किं भक्तं किं मोक्षो दृष्टो जिनोद्दिष्टः ॥७४॥

शब्दार्थ

हीणादाण-वियार—त्याज्य (और) ग्राह्य (के) विचार (से), **विहीणादो**—विहीन (होने) से, **हि**—निश्चय, **बाहिरक्खसोक्खं**—बाह्य इन्द्रिय-सुख को (मानने वाले), **किं तजियं**—क्या त्याज्य (है), **किं भजियं**—क्या ग्राह्य (है); **किं मोक्खं**—क्या मोक्ष (है); **दिट्ठं**—देखे (हुए); **जिणुद्दिट्ठं**—जिनेन्द्रदेव ने कहा (है)।

हेय-उपादेय के विवेक बिना सम्भव नहीं है

भावार्थ—हेय-उपादेय के ज्ञान के बिना निश्चय में इन्द्रियों के सुख को मानने वाले क्या त्याज्य है, क्या ग्राह्य है, क्या मोक्ष है, यह समझ नहीं पाते। आत्मदर्शी श्री जिनेन्द्रदेव ने यह कहा है।

१. °मुक्खं 'अ' 'ग' 'घ' 'प' 'फ' 'ब'। २. °मोक्खु 'म' 'व'। ३. °ण दिट्ठं 'व'। °णदिच्छं 'म'।

कायकिलेसुववासं दुद्धरतवयरण[1]कारणं जाण[2] ।
तं णियसुद्ध सरूवं[3] परिपुण्णं चेदि कम्मणिम्मूलं ॥७५॥

कायक्लेशोपवासं दुर्धरतपश्चरणकारणं जानीहि ।
तन्निजशुद्धस्वरूपं परिपूर्णं चेति कर्मनिर्मूलम् ॥७५॥

शब्दार्थ

कायकिलेसुववासं—कायक्लेश (और) उपवास; **दुद्धर**—दुर्धर (कठोर); **तवयरण**—तपश्चरण (के); **कारणं**—कारण; **जाण**—जानो; **च**—और; **परिपुण्णं**—परिपूर्ण; **णिय**—निज; **सुद्धसरूवं**—शुद्ध स्वरूप (का होना), **कम्मणिम्मूलं**—कर्मनिर्मूलन (का); **कारणं**—कारण (है); **इति**—ऐसा; **जाण**—जानो।

आत्मशुद्धि : कर्मोन्मूलन

भावार्थ—जैसे कायक्लेश और उपवास कठोर तपश्चरण के कारण हैं, वैसे ही आत्मा के शुद्ध स्वरूप में अवस्थित होना कर्मनिर्मूलन का कारण है ।

१. ँतवयरण 'अ' 'घ' 'प' 'फ' 'ब' 'म' 'व'। ँतवमरण 'ग'। २. ँजाणा 'ब'। ३. ँतण्णी सुद्धप्परुई 'म'। ँतं णिय सुद्धप्परुई 'व'।

कम्मु ण खवेइ जो हु परबम्हु णजाणेइ सम्मउम्मुक्को ।
अत्थु[1] ण तत्थु ण जीवो लिंगं घेत्तूण किं करई ॥७६॥

कर्म न क्षपयति यो हि परब्रह्मं न जानाति सम्यक्त्वोन्मुक्तः ।
अत्र न तत्र न जीवो लिंगं गृहीत्वा कि करोति ? ॥७६॥

शब्दार्थ

जो—जो (व्यक्ति); **सम्मउम्मुक्को**—सम्यक्त्व से रहित (है), **परबम्हु**—परब्रह्म (आत्मा को); **ण**—नहीं, **जाणेइ**—जानता (है) (वह); **अत्थु ण**—यहाँ नही (और); **तत्थु ण**—वहाँ नही (है); **कम्मु**—कर्म (का); **ण**—नही, **खवेइ**—क्षय करता (है) (वह), **लिंगं**—वेश को; **घेत्तूण**—ग्रहण कर; **किं**—क्या, **करई**—करता (है) ।

वेश से मुक्ति नहीं

भावार्थ—जो व्यक्ति सम्यग्दर्शन से रहित है और अपनी आत्मा को नहीं जानता है, वह न तो गृहस्थ है और न मुनि । वह कर्मो का क्षय नहीं करता, इसलिए उसके मुनिवेश धारण करने से भी क्या लाभ है ?

---

१. °अत्थूण 'अ' । °वत्थु 'घ' 'प' ।

अप्पाणं पि ण पिच्छइ[1] ण मुणइ ण वि सद्दहइ ण भावेई[2] ।
बहुदुक्खभारमूलं लिंगं घेत्तूण किं करई[3] ॥७७॥

आत्मानमपि न पश्यति न जानाति नापि श्रद्दधाति न भावयति ।
बहुदुःखभारमूलं लिंगं गृहीत्वा किं करोति ? ॥७७॥

शब्दार्थ

(यदि साधु) **अप्पाणं**—आत्मा को; **पि**—भी; **ण**—नहीं; **पिच्छइ**—देखता (पहचानता); **ण**—नहीं; **मुणइ**—मनन करता; **ण वि**—ना ही; **सद्दहइ**—श्रद्धान करता (और); **ण**—नहीं; **भावेई**—(भावना) भाता (है तो); **बहुदुक्खभार**—अत्यन्त दुःखभार (के); **मूलं**—कारण; **लिंगं**—वेश को; **घेत्तूण**—धारण कर; **किं**—क्या; **करई**—करता (है); (अर्थात् साधु का वेश मात्र धारण करना व्यर्थ है।)

और भी

भावार्थ—यदि साधु अपनी आत्मा के दर्शन नहीं करता, उसका मनन और श्रद्धान नहीं करता तथा भावना भी नहीं भाता, तो बहुत से दुःखभार का कारण स्वरूप बाह्यवेश धारण करने से कोई लाभ नहीं है ।

१. °पेच्छइ 'व' । २. °सब्भावेई 'व' । ३. °करइ 'अ' । °कुणई 'घ' ।

जाव ण जाणइ अप्पा अप्पाणं दुक्खमप्पणो ताव[1] ।
तेण अणंत सुहाणं अप्पाणं भावए जोई ॥७८॥

यावन्न जानाति आत्मा आत्मानं दुःखमात्मनस्तावत् ।
तेन अनन्तसुखमात्मानं भावयेद् योगी ॥७८॥

शब्दार्थ

जाव—जब तक; **अप्पा**—आत्मा; **अप्पाणं**—अपने आपको; **ण**—नही, **जाणइ**—जानता है, **ताव**—तब तक, **अप्पणो**—आत्मा (का); **दुक्खं**—दुःख (प्रतीत नहीं होता); **तेण**—इसलिए; **जोई**—योगी (मुनि), **अणंतसुहाणं**—अनन्त सुख (से युक्त), **अप्पाणं**—आत्मा का, **भावए**—चिन्तन करता है।

आत्मभावना

भावार्थ—जब तक यह आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को नही जान लेता, तब तक अपने दुःख की प्रतीति नही होती। अतएव मुनि अनन्त सुख से युक्त आत्मा का चिन्तन करते हैं।

1. °तावं 'ब'। °भाव 'घ' 'प'।

णियतच्चुवलद्धिविणा सम्मत्तुवलद्धि णत्थि णियमेण ।
सम्मत्तुवलद्धिविणा णिव्वाणं णत्थि णियमेण[1] ॥७९॥

निजतत्त्वोपलब्धिबिना सम्यक्त्वोपलब्धिर्नास्ति नियमेन ।
सम्यक्त्वोपलब्धि विना निर्वाणं नास्ति नियमेन ॥७९॥

शब्दार्थ

णिय—निज; **तच्चुवलद्धि**—तत्त्वोपलब्धि (के); **विणा**—बिना, **णियमेण**—नियम से; **सम्मत्तुवलद्धि**—सम्यक्त्व-प्राप्ति; **णत्थि**—नही है (और); **सम्मत्तुवलद्धि**—सम्यक्त्व-प्राप्ति (के); **विणा**—बिना; **णियमेण**—नियम से, **णिव्वाणं**—निर्वाण, **णत्थि**—नही (होता है)।

सम्यक्त्व से निर्वाण

भावार्थ—आत्मतत्त्व की प्राप्ति के विना नियम से सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होती। सम्यक्त्व को पाए विना निश्चय मे मोक्ष नहीं होता है।

१. °जिणुद्दिट्ठ 'ग' 'ब'। °णियमेण 'अ' 'घ' 'प' 'फ' 'म' 'व'।
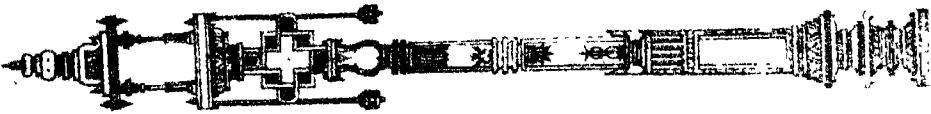
साल[1]विहीणो राओ[2] दाणदयाधम्मरहिय गिहि[3]सोहा ।
णाणविहीणतवोवि य जीवविणा देहसोहा णो ॥८०॥

सालविहीनो राजा दानदयाधर्मरहितगृहिशोभा ।
ज्ञानविहीनतपोऽपि च जीवं विना देहशोभेव ॥८०॥

शब्दार्थ

सालविहीणो—दुर्ग के बिना (जैसे), **राओ**—राजा; **दाणदयाधम्मरहिय**—दान, दया, (और) धर्म से रहित; गिहि—गृहस्थ की; **सोहा**—शोभा (नही होती); (वैसे ही); **णाणविहीण**—ज्ञान से विहीन; **तवो**—तप, **वि**—भी; **य**—और; **जीवविणा**—जीव के बिना; **देहसोहा**—देह की शोभा; **णो**—नही (होती है)।

इनके बिना शोभा नहीं

भावार्थ—जैसे दुर्ग के बिना राजा की शोभा और दान, दया तथा धर्म से रहित गृहस्थ की शोभा नहीं होती, वैसे ही ज्ञान से रहित तप तथा जीव के बिना शरीर की शोभा नही होती है।

१. °मील 'व'। २. °राउ 'प' 'फ'। °राया 'ब'। °राओ 'अ' 'घ' 'म' 'व'। ३. °गिह 'अ' 'घ' 'प' 'फ' 'म' 'व'। ४. °व 'अ' 'फ' 'म' 'व'। °च 'ग' 'घ' 'प'।

मक्खी सिलिम्मि[1] पडियो[2] मुवइ[3] जहा तह परिग्गहे पडियो[4] ।
लोही[5] मूढो खवणो कायकिलेसेसु अण्णाणी ।।८१।।

मक्षिका श्लेष्मणि पतिता म्रियते यथा तथा परिग्रहे पतितः ।
लोभी मूढः क्षपणः कायक्लेशेषु अज्ञानी ।।८१।।

शब्दार्थ

जहा—जैसे; **सिलिम्मि**—श्लेष्मा में; **पडियो**—पड़ी हुई, **मक्खी**—मक्खी; **मुवइ**—मर जाती है; **तह**—वैसे (ही); **परिग्गहे**—परिग्रह (आसक्ति) में, **पडिआ**—पड़ा हुआ; **लोही**—लोभी, **मूढो**—मूढ़; **अण्णाणी**—अज्ञानी; **खवणो**—क्षपण (साधु); **कायकिलेसेसु**—शारीरिक कष्टों में (जीवन खो देता है)।

आसक्ति से संसार

भावार्थ—जैसे कफ में पड़ी हुई मक्खी कुछ समय बाद मर जाती है, वैसे ही आसक्ति में फँसा हुआ लोभी, मूढ़ और अज्ञानी साधु शारीरिक कष्टों का पालन करता हुआ कुछ ही वर्षों में अपना जीवन खो देता है।

१. °सिलिम्मं 'म' 'व'।२. °पडिओ 'ग' 'घ' 'व' । °पड्डियो 'म' 'व' । °पडियो 'अ' 'प' 'फ'।
३. °मुवहि 'म' 'व'।४ °पडिओ 'ग'। °पडियो 'अ' 'घ' 'प' 'फ' 'म' 'व' ।५. °लोहिय 'व'।

णाणब्भासविहीणो सपरं तच्चं ण जाणए किं वि[1] ।
झाणं तस्स ण होइ हु[2] जाव ण कम्मं खवेइ ण हु मोक्खं[3] ॥८२॥

ज्ञानाभ्यासविहीनः स्वपरं तत्त्वं न जानति किमपि ।
ध्यानं तस्य न भवति हि तावन्न कर्म क्षपयति न हि मोक्षः ॥८२॥

शब्दार्थ

णाणब्भासविहीणो—ज्ञानाभ्यास से विहीन (जीव); **सपरं**—स्व (आत्मा) (और) पर (अन्य द्रव्य); **तच्चं**—तत्त्व को; **किं वि**—कुछ भी; **ण**—नही, **जाणए**—जानता, **तस्स**—उसके; **झाणं**—ध्यान; **हु**—ही (भी); **ण**—नहीं; **होइ**—होता है, (और) **जाव**—जब तक; **कम्मं**—कर्म को; **ण**—नहीं; **खवेइ**—नष्ट करता; **मोक्खं**—मोक्ष; **ण हु**—नहीं ही (होता)।

सम्यग्ज्ञान से मोक्ष

भावार्थ—सम्यग्ज्ञान के अभ्यास के बिना यह जीव शुद्ध आत्मा तथा अन्य द्रव्यों में से किसी को भी भलीभाँति नही जान पाता। वास्तव में उसे आत्मा का ध्यान ही नहीं होता। ध्यान न होने से कर्म नष्ट नहीं होते और कर्म के क्षय के बिना मोक्ष नहीं होता।

---

१. किंपि 'ग' 'म' 'व'। २. हु 'अ' 'ग' 'घ' 'व'। ३. मोक्खो 'क'।

अज्झयणमेवझाणं पंचेंदिय[1]णिग्गहं कसायं पि ।
तत्तो पंचमयाले[2] पवयणसारब्भासमेव कुज्जाओ[3] ।।८३।।

अध्ययनमेवध्यानं पंचेन्द्रियनिग्रहो कषायस्यापि ।
ततः पंचमकाले प्रवचनसाराभ्यासमेव कुर्यात् ।।८३।।

शब्दार्थ

पंचमयाले—पंचम (वर्तमान) काल मे; **अज्झयणमेव**—अध्ययन ही; **झाणं**—ध्यान (है) (इस से); **पंचेंदियणिग्गहं**—पंचेन्द्रियों का निग्रह; **कसायं**—कषाय (का); **पि**—भी; (निग्रह होता है); **तत्तो**—इस कारण से (इस); **हो**—अहो! **पंचमयाले**—वर्तमान काल मे; **पवयणसारब्भासमेव**—प्रवचनसार का अभ्यास ही; **कुज्जाओ**—करे।

अध्ययन : ध्यान

भावार्थ—वर्तमान काल में अध्ययन ही ध्यान है। इससे पाँचों इन्द्रियों और कषाय का निग्रह होता है। इसलिए इस काल में निज शुद्धात्मा को जो कि प्रवचन का सारभूत है, प्राप्त करने का अभ्यास करना चाहिए।

---

१. पंचिंदिय 'म'। २. पंचमयाले 'ग' 'ब'। ३ °कुज्जाहो 'अ' 'ग' 'घ'।

पावारंभणिवित्ती[1] पुण्णारंभे पउत्तिकरणं वि[2] ।
णाणं धम्मज्झाणं जिणभणियं सव्वजीवाणं ।।८४।।

पापारंभनिवृत्तिः पुण्यारंभे प्रवृत्तिकरणमपि ।
ज्ञानं धर्मध्यानं जिनभणितं सर्वजीवानाम् ।।८४।।

शब्दार्थ

पावारंभणिवित्ती—हिंसा के कार्यों से निवृत्त (हो कर); **पुण्णारंभे**—पुण्य के कार्यों में; **पउत्तिकरणं**—प्रवृत्ति करना; **वि**—भी; **णाणं**—ज्ञान (और), **धम्मज्झाणं**—धर्मध्यान को, **सव्वजीवाणं**—सब जीवों के लिए (मुक्ति का कारण); **जिणभणियं**—जिन (देव) ने कहा है।

संसार के पार जाना है तो

भावार्थ—यदि संसार के पार जाना चाहते हो तो हिंसा के कार्यों से छूट कर पुण्य के कार्यों में प्रवृत्ति करनी चाहिए। जिनदेव ने ज्ञान और धर्मध्यान को सब जीवों के लिए मुक्ति का कारण कहा है।

१. °णिमित्ती 'म'। २. °पि 'अ' 'ग' 'घ' 'म' 'व'
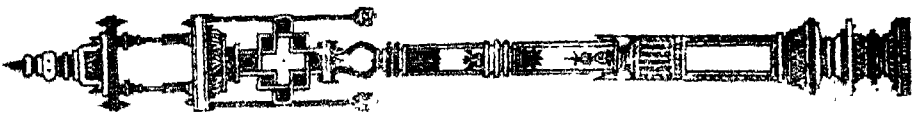
सुदणाणब्भासं[1] जो ण कुणइ सम्मं ण होइ तवयरणं[2] ।
कुव्वंतो[3] मूढमई संसारसुहाणुरत्तो सो[4] ।।८५।।

श्रुतज्ञानाभ्यासं यः करोति सम्यक् न भवति तपश्चरणं ।
कुर्वन् यदि मूढमतिः संसारसुखानुरक्तः सः ।।८५।।

शब्दार्थ

जो—जो; **सुदणाणब्भासं**—श्रुत (शास्त्र) का ज्ञानाभ्यास; **ण**—नहीं; **कुणइ**—करता है (उसके); **तवयरणं**—तपश्चरण; **सम्मं**—सम्यक् (ठीक से); **ण**—नहीं; **होइ**—होता है; **सो**—वह; **मूढमई**—मूढ बुद्धि (वाला); **कुव्वंतो**—(तपश्चरण) करता हुआ; **संसारसुहाणुरत्तो**—संसार सुख में अनुरक्त (है)।

ज्ञान से ही सम्यक्

भावार्थ—जो कभी शास्त्रज्ञान का अभ्यास नहीं करता, वह यदि तपश्चरण भी करता है तो ठीक से नहीं होता, क्योंकि मूढ़बुद्धि वाला तपश्चरण करता हुआ भी संसार के सुख में अनुरक्त है ।

---

१. °सुदणाणब्भासो 'अ'। २. °तवयराणं 'व'। ३. °कुव्वंतो 'अ' 'घ' 'प' 'फ' 'म' 'व'। °कुव्वं जइ 'ग' 'ब'। ४. °जो 'ग' 'प' 'फ'।

तच्चवियारणसीलो मोक्खपहाराहणसहावजुदो[1] ।
अणवरयं धम्मकहा पसंगओ[2] होइ मुणिराओ ।।८६।।

तत्वविचारणशीलो मोक्षपथाराधनास्वभावयुतः ।
अनवरतं धर्मकथाप्रसंगतो भवति मुनिराजः ।।८६।।

शब्दार्थ

तच्चवियारणसीलो—तत्त्व की विचारणा करने वाले; **मोक्खपहाराहणसहावजुदो**—मोक्ष-पथ की आराधना के स्वभाव से युक्त (तथा), **अणवरयं**—अनवरत (निरन्तर); **धम्मकहापसंगओ**—धर्म-कथा के सम्बन्ध से (सहित); **मुणिराओ**—मुनिराज, **होइ**—होने (हैं)।

मुनि : तत्त्व में मननशील

भावार्थ—मुनिवर तत्त्व का चिन्तन-मनन करने वाले, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप मोक्ष-मार्ग की आराधना के स्वभाव से युक्त निरन्तर धर्मकथा करते हैं।

---

१. °जोदो 'म'। २. °पसंगदो 'ग' 'व'। °पमगओ 'अ' 'घ' 'प' 'फ' 'म' 'व'।

विकहाइविप्पमुक्को आहाकम्माइविरहियो णाणी ।
धम्मुद्देसण[1] कुसलो अणुपेहा[2] भावणाजुदो जोई ॥८७॥

विकथादिविप्रमुक्तः अधःकर्मादिविरहितो ज्ञानी ।
धर्मदेशनाकुशलोऽनुप्रेक्षा - भावनायुतो योगी ॥८७॥

शब्दार्थ

(जो) **विकहाइ**—विकथा (से); **विप्पमुक्क**—पूर्ण मुक्त (हैं); **आहाकम्माइ**—अधः कर्म (दोषों से); **विरहियो**—रहित (हैं); **धम्मुद्देसण**—धर्मोपदेश (देने में); **कुसल**—कुशल (तथा); **अणुपेहा-भावण**—अनुप्रेक्षा (चिन्तन) भावना (से); **जुदो**—युक्त (हैं) (वह); **णाणी**—ज्ञानी (पुरुष); **जोइ**—योगी (मुनि है)।

और भी

भावार्थ—जो धर्मकथा को छोड़कर अन्य किसी प्रकार की कथा नहीं करते तथा जो दोष-पूर्ण क्रियाओं से रहित हैं, ऐसे धर्मोपदेश देने में कुशल और बारह भावनाओं के चिन्तन में लीन ज्ञानी पुरुष ही मुनि है।

---

१. °धम्मुद्दोसण 'म'। °धम्माद्देसण 'व'। २°अणुपीहण 'म'। °अणुपेहण। 'व'।
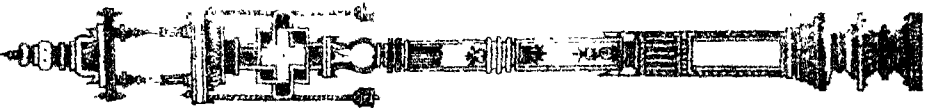
णिंदावंचणदूरो परीसहउवसग्गदुक्खसहमाणो[1] ।
सुह[2] झाणज्झयणरदो गय[3] संगो होइ मुणिराओ ।।८८।।

निदावंचनदूरः परीषहोपसर्गदुःखसहमानः ।
शुभध्यानाध्ययनरतो गतसङ्गो भवति मुनिराजः ।।८८।।

शब्दार्थ

(जो) **णिंदा**—निन्दा; **वंचण**—वंचना (से); **दूर**—दूर (है); **परीसह**—परीषह; **उवसग्ग**—उपसर्ग; **दुक्ख**—दु ख; **सहमाणो**—सहनशील (है और); **सुह**—शुभ; **झाणज्झयण**—ध्यान-अध्ययन (में); **रद**—रत (लीन); **गयसंगो**—परिग्रह विहीन; (है, वह) **मुणिराओ**—मुनिराज; **होइ**—होता (है)।

समभावी : ज्ञानाध्ययन में निरत

भावार्थ—जो दूसरे की निन्दा-वंचना (ठगाई) से दूर रहते है, चारों ओर के कष्ट-दु:खों को सम भाव से सहन करते है और शुभ ध्यान-अध्ययन में सदा लीन रहते हैं एवं परिग्रह से रहित होते है, वे मुनिराज होते है ।

१. °दुक्खसहमाणो 'अ' 'ग' 'फ' 'ब' 'म' 'व'। °दुक्खसहमाणा 'घ' 'प'। °दुक्खसहभावो 'फ'।
२. °सह 'व'। ३. °गइ 'ग' 'ब'।

अवियप्पो णिद्दंदो णिम्मोहो णिक्कलंकओ णियदो[1] ।
णिम्मल[2]सहावजुत्तो जोई सो होइ मुणिराओ ।।८९।।

अविकल्पो निर्द्वन्द्वो निर्मोहो निष्कलंको नियतः ।
निर्मलस्वभावयुक्तो योगी स भवति मुनिराजः ।।८९।।

शब्दार्थ

(जो) **अवियप्पो**—निर्विकल्प; **णिद्दंदो**—निर्द्वन्द्व, **णिम्मोहो**—निर्मोही; **णिक्कलंकओ**—निष्कलंक; **णियदो**—नियत; **णिम्मलसहाव**—निर्मल स्वभाव (से); **जुत्तो**—युक्त; **जोई**—योगी (है); **सो**—वह; **मुणिराओ**—मुनिराज; **होइ**—होता (है)।

योगी : मुनिराज

भावार्थ—जो योगी निर्द्वन्द्व, निर्मोही, निष्कलंक, स्थिर , निर्मल स्वभाव वाला सांसारिक क्रियाओं और वातावरण से निर्विकल्प होता है, वह मुनिराज होता है ।

१. °णियदा 'म' । २. °णिम्मण 'व' ।

तिव्वं कायकिलेसं कुव्वंतो मिच्छभावसंजुत्तो[1] ।
सव्वण्हूवएसो[2] सो णिव्वाणसुहं ण गच्छेई ॥९०॥

तीव्रं कायक्लेशं कुर्वन् मिथ्यात्वभावसंयुक्तः ।
सर्वज्ञोपदेशो स निर्वाणसुखं न गच्छति ॥९०॥

शब्दार्थ

(जो) **तिव्व**—तीव्र; **कायकिलेसं**—कायक्लेश (को); **कुव्वंतो**—करता हुआ (भी)। ; **मिच्छभाव**—मिथ्यात्व भाव (से), **संजुत्तो**—सयुक्त (है); **सो**—वह, **णिव्वाणसुहं**—निर्वाण सुख को; **ण**—नहीं; **गच्छेइ**—प्राप्त करता है (यह), **सव्वण्हूवएसो**—सर्वज्ञ (का) उपदेश (है)।

दुर्ध्यान से सुख नहीं

भावार्थ—जो घोर तप करता हुआ भी मिथ्यात्व भाव से युक्त है, वह शाश्वत सुख रूप मुक्ति को प्राप्त नहीं करता—यह सर्वज्ञ का उपदेश है।

१. °मिच्छभावणाजुत्तो 'म' 'व'। °मिच्छभावणजुत्तो 'अ' 'प' 'फ'। २. °सव्वण्हूवएसे 'म' 'व'।

रायाइमलजुदाणं णियअप्पारूवं ण दिस्सए किं[8] वि[2] ।
स-मलादरिसे रूवं ण दिस्सए[3] जह[4] तहा णेयं ॥९१॥

रागादिमलयुक्तानां निजात्मरूपं न दृश्यते किमपि ।
समलादर्शे रूपं न दृश्यते यथा तथा ज्ञेयम् ॥९१॥

शब्दार्थ

रायाइ—राग आदि (द्वेष, मोह); **मलजुदाणं**—मल युक्त (जीवों को); **णिय**—अपना, **अप्पा रूवं**—आत्म स्वरूप, **किं वि**—कुछ भी; **ण**—नही; **दिस्सए**—दिखलाई देता; **जह**—जैसे; **स-मलादरिसे**—मलिन दर्पण मे, **रूवं**—रूप, **ण**—नही; **दिस्सए**—दिखाई देता, **तहा**—वैसे (ही); **णेयं**—समझना (चाहिए)।

मैलेपन में आत्मदर्शन नहीं

भावार्थ—जैसे मलिन दर्पण में अपना प्रतिविम्ब स्पष्ट नहीं दिखलाई पडता, उसी प्रकार राग-द्वेष, मोह, आदि मैल से युक्त जीव को शुद्ध आत्मस्वरूप की अनुभूति नहीं होती। शुद्ध आत्मा के किंचित् भी दर्शन नही होते।

१. °दीसए 'घ'। २ °कि पि 'म' 'व'। ३. °दीसए 'अ' 'घ' 'प' 'फ'। °दिस्सदे 'ग'। ४. °जहा 'म' 'व'।

दंडत्तय सल्लत्तय मंडियमाणो असूयगो साहू ।
भंडणजायणसीलो हिंडइ सो दीहसंसारे[1] ॥९२॥

दण्डत्रयशल्यत्रयरचितमानोऽसूयकः साधुः ।
भण्डनयाचनशीलो हिण्डते स. दीर्घसंसारे ॥९२॥

शब्दार्थ

(जो तपस्वी) **दंडत्तय**—तीन दण्ड (मन. वचन, शरीर को वश मे न रखने वाले); **सल्लत्तय**—तीन शल्य (मिथ्या. माया. निदान) (से), **मंडियमाणो**—शोभायमान; **असूयगो**—ईर्ष्यावान (और); **भंडण**—कलह, **जायणसीलो**—याचनाशील, **साहु**—साधु (हैं), **सो**—वह, **दीह**—दीर्घ, **संसारे**—ससार मे, **हिंडइ**—घूमते (है)।

संयमी ही साधु

भावार्थ—जो तपस्वी अपने मन, वाणी और शरीर पर नियन्त्रण नहीं रखते और मिथ्यात्व, माया तथा निदान से युक्त हो ईर्ष्या, कलह, याचना करने वाले होते है, वे दीर्घ काल तक संसार में परिभ्रमण करते रहते है ।

---

१. संसारी 'ध'।
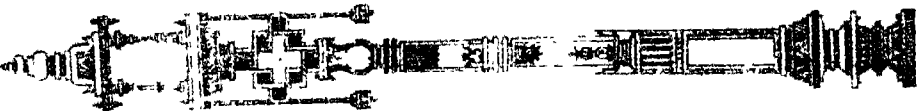
देहादिसु[1] अणुरत्ता विसयासत्ता कसायसंजुत्ता ।
अप्पसहावे[2] सुत्ता ते साहू सम्मपरिचत्ता[3] ॥९३॥

देहादिषु अनुरक्ता विषयासक्ताः कषायसंयुक्ताः ।
आत्मस्वभावे सुप्ता ते साधवः सम्यक्त्वपरित्यक्ताः ॥९३॥

शब्दार्थ

(जो तपस्वी) **देहादिसु**—शरीर आदि में; **अणुरत्ता**—अनुरक्त; **विसयासत्ता**—विषयासक्त; **कसाय**—कषाय (से); **संजुत्ता**—संयुक्त (और); **अप्पसहावे**—आत्म स्वभाव में; **सुत्ता**—सुप्त (बेखबर हैं); **ते**—वे; **साहू**—साधु; **सम्म**—सम्यक्त्व (से); **परिचत्ता**—परित्यक्त (हैं)।

आत्मस्वभाव से विमुख मिथ्यात्वी है

भावार्थ—जो तपस्वी शरीर आदि भौतिक पदार्थों में अनुराग रखते हैं और सांसारिक विषयों में आसक्त है एवं क्रोध, मान, माया, लोभ से युक्त आत्म स्वभाव से अपरिचित है, वास्तव में वे साधु आध्यात्मिकता से परे हैं।

१. °देहादी 'म' 'व'। २. °आदसहावे 'अ' 'घ' 'प' 'फ' 'म' 'व'। ३. °सम्मउम्मुक्को 'अ' 'घ' 'प' 'म'। °सम्म उम्मुक्का 'व'।

आरंभे[1] धणधण्णे उवयरणे कंखिया[2] तहासूया ।
वयगुणसीलविहीणा कसायकलहप्पिया मुहरा[3] ॥९४॥
संघविरोहकुसीला सच्छंदा रहिय[4] गुरुकुला मूढा ।
रायाइसेवया[5] ते जिणधम्मविराहिया[6] साहू ॥९५॥

आरभे धनधान्ये उपकरणे काक्षितास्तथाऽसूया: ।
व्रतगुणशीलविहीना. कषायकलहप्रिया. मुखरा: ॥९४॥
संघविरोधकुशीला: स्वच्छन्दा रहितगुरुकुला मूढा: ।
राजादिसेवका: ते जिनधर्मविराधका: माधव: ॥९५॥

शब्दार्थ

आरंभे—आरम्भ (व्यापार) मे, **धणधण्णे**—धन-धान्य मे (तथा), **उवयरणे**—उपकरण में, **कंखिया**—इच्छा रखने वाले; **तहा**—तथा, **सूया**—ईर्ष्यालु; **वयगुणसील**—व्रत, गुण, शील (से); **विहीणा**—विहीन, **कसायकलहप्पिया**—कषाय (व) कलहप्रिय; **मुहरा**—मुखर; **संघविरोहकुसीला**—संघ-विरोध स्वभावी, **सच्छंदा**—स्वच्छन्द, **गुरुकुलारहिय**—गुरु (की) आज्ञा से रहित; **मूढा**—अज्ञानी; **रायाइसेवा**—राजादि की सेवा (मे रहने वाले), **साहु**—साधु (हैं); **ते**—वे, **जिणधम्मविराहिया**—जिनधर्म के विरोधी (हैं)।

व्रत, गुण, शीलादि हीन साधु नहीं है

भावार्थ—जो व्यापार, धन-धान्य, वर्तन की अभिलाषा रखने वाले ईर्ष्यालु, कषाय-कलह-प्रिय, मुखर तथा साधु-संघ के विरोधी स्वभाव वाले, गुरु की आज्ञा नहीं मानने वाले, अज्ञानी, व्रत, गुण, शील से हीन, राजादि की सेवा में रहने वाले हैं, वे जिन-धर्म की विराधना करने वाले हैं।

१. °आरब्भे 'अ' 'घ' 'प' 'फ'। २. °कंक्खिया 'ग' 'ब'। ३. °महुरा 'अ' 'ग'। °मुहुरा 'व'। ४. °रहिद 'म' 'व'। ५. °रायाइसव्वया 'ग'। ६. °विराहये 'म' 'व'।

जोइसवेज्जामंतोवजीवणं[1] वायवस्स[2] ववहारं ।
धणधण्णपडिग्गहणं समणाणं दूसणं होइ ॥९६॥

ज्योतिर्विद्यामंत्रोपजीवनं वातकस्य व्यवहारं ।
धनधान्यप्रतिग्रहणं श्रमणाना दूषणं भवति ॥९६॥

शब्दार्थ

जोइसवेज्जा—ज्योतिष विद्या; **मंतोवजीवणं**—मन्त्र (विद्या द्वारा) आजीविका (चलाना); **वायवस्स**—वात-विकार का (भूत-प्रेत का); **ववहारं**—व्यवहार (व्यापार कर); **धणधण्ण**—धन-धान्य (का); **पडिग्गहणं**—प्रतिग्रहण (करना), **समणाणं**—श्रमणों के (साधुओं के); **दूसणं**—दूषण **होइ**—होते (हैं)।

श्रमण में वणिग्वृत्ति नहीं

भावार्थ—ज्योतिष विद्या और मन्त्र-विद्या द्वारा आजीविका चलाना तथा भूत-प्रेत का प्रदर्शन कर धन-धान्यादि लेना श्रमणों के लिए दूषण कहे गए है।

१. °मंतोपजीवाण 'अ' 'प'। २. °धायवस्स 'ग'।

जे पावारंभरया कसायजुत्ता परिग्गहासत्ता ।
लोयववहारपउरा ते साहू सम्मउम्मुक्का ।।९७।।

ये पापारभरताः कषाययुक्ताः परिग्रहासक्ताः ।
लोकव्यवहारप्रचुरः ते साधवः सम्यक्त्वोन्मुक्ताः ।।९७।।

शब्दार्थ

जे—जो, **साहू**—साधु, **पावारंभरया**—पाप-आरम्भ (मे), रत (है); **कसायजुत्ता**—कषाय (से) युक्त; **परिग्गहासत्ता**—परिग्रह (मे) आसक्त (है), (और) **लोयववहारपउरा**—लोक-व्यवहार (मे) चतुर (हैं), **ते**—वे, **सम्म**—सम्यक्त्व (से), **उम्मुक्का**—उन्मुक्त (हैं)।

लोकव्यवहार में रत साधु नहीं हैं

भावार्थ—जो साधुजन पाप के कार्यो में लगे हुए है, क्रोध, मान, माया और लोभ से युक्त तथा परिग्रह में आसक्त हे, वे लोक-व्यवहार में भले ही चतुर हो, परन्तु सम्यक्त्व से रहित हैं।

संजमतव[1] झाणज्झयणविणाणए[2] गेण्हये[3] पडिग्गहणं ।
वंचइ[4] गिण्हइ[5] भिक्खु ण सक्कदे वज्जिदुं[6] दुक्खं[7] ॥१०३॥
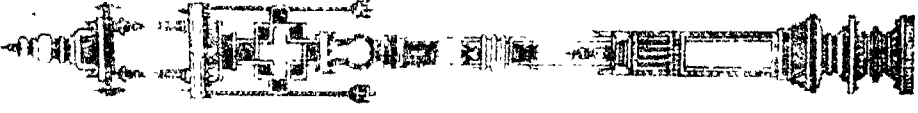
संयमतपोध्यानाध्ययनविज्ञानाय गृह्णीयात् प्रतिग्रहणं ।
वर्जयति गृह्णाति भिक्षुर्न शक्नोति वर्जितु दुःखम् ॥१०३॥

शब्दार्थ

भिक्खु—भिक्षु (मुनि); **संजमतवझाणज्झयणविणाणए**—संयम, तप, ध्यान, अध्ययन, विज्ञान (के हेतु); **पडिग्गहणं**—आहार को, **गेण्हये**—ग्रहण करे, (जो इन बातो को), **वंचइ**—छोडता (है); **गिण्हइ**—(आहार) ग्रहण करता (है), (वह), **दुक्खं**—दुःख को, **वज्जिदुं**—छोड़ने को, **ण**—नही; **सक्कदे**—समर्थ होता (है)।

संयम, तप, आदि की ओर लक्ष्य

भावार्थ—मुनि को संयम, तप, ध्यान, अध्ययन और भेद-विज्ञान की साधना के लिए शरीर-स्थिति मे निमित्त जान कर आहार ग्रहण करना चाहिए। जो इन कारणों के अतिरिक्त अन्य किसी बात के लिए आहार ग्रहण करता है, वह दुःख को छोडने में समर्थ नहीं होता।

१ °तम 'म'। २. °विण्णाणये 'ग' 'प' 'फ'। ३. °गिण्ह 'अ' 'ग' 'घ' 'प' 'फ' 'व' ४. °पंचे 'म'। °पंचइ 'ग' 'व' °एव्वे 'फ'। °एंचे 'इ'। ५. °गेण्हइ 'म' 'व' ६. °वच्चिदुं 'म' 'व'। ७ °दुक्खू 'अ' 'ग' 'प' 'फ'।

कोहेण य कलहेण य जायणसीलेण संकिलेसेण ।
रुद्देण य रोसेण य भुंजइ किं वितरो[1] भिक्खू ।।१०४।।

क्रोधेन च कलहेन च याचनाशीलेन सक्लेशेन ।
रुद्रेण च रोषेण च भुक्ते कि व्यन्तरो भिक्षु ।।१०४।।

शब्दार्थ

कोहेण—क्रोध से, **य**—और, **कलहेण**—कलह से, **य**—और; **जायण**—याचना, **सीलेण**—स्वभाव से, **संकिलेसेण**—संक्लेश से, **य**—और, **रुद्देण**—रौद्र (परिणाम) से; **रोसेण**—रोष से (यदि); **भुंजइ**—भोजन करता (है तो), **किं**—क्या, **भिक्खू**—भिक्षु (मुनि है ? वह तो), **वितरो**—व्यन्तर (है)।

भोजन में भी समभावी

भावार्थ—आहार के समय क्रोध, कलह, याचना, संक्लेश, रौद्रपरिणाम और रूठना आदि वर्जित है। यदि मुनि मे ये बाते हो, तो उसे व्यन्तर समझना चाहिए।

१. बेंतरो 'व'। चितगे 'म'। चितए 'ब'।
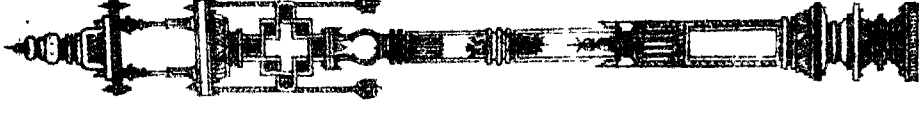
दिव्वुत्तरण[1] सरिच्छं जाणिच्चाहो धरेइ[2] जइ सुद्धो ।
तत्तायसपिंडसमं भिक्खू तुह[3] पाणिगयपिंडं ।।१०५।।

देवोत्तरणसदृशं ज्ञात्वा अहो धारयति यदि शुद्धो ।
तप्तायःपिण्डसमं भिक्षु तव पाणिगतपिण्डं ।।१०५।।

शब्दार्थ

जइ—यदि; **तत्तायसपिंडसमं**—तप्त लोह के पिण्ड के समान, **सुद्धो**—शुद्ध (है, तो यह); **जाणिच्चाहो**—जान कर, **पाणिगय**—हस्तगत, **पिंडं**—ग्रास को, **भिक्खू**—मुनि; **दिव्वुत्तरण**—दिव्य उत्तरण (नौका) (के) **सरिच्छं**— समान (समझ कर), **धरेइ**—धारण (ग्रहण) करता (है)।

शुद्ध भोजन ग्रहण करता है

भावार्थ—मुनि अग्नि से तपाये हुए लोहे के पिण्ड के समान शुद्ध व निर्दोष आहार को देख व समझ कर हस्तगत ग्रास को दिव्य नौका के समान शरीर का साधन मान कर ग्रहण करे।

---

१. °दोवुत्तरण मरित्थ 'म' । °दिवुत्तरण 'व' । २. °धरेह 'ब' 'व' । ३. °तुह 'ग' 'घ' 'प' 'फ' 'ब' । °तुम्ह 'अ' ।

अविरददेसमहव्वय[1] आगमरूइणं[2] वियारतच्चण्हं[3] ।
पत्तंतरं[4] सहस्सं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं ।।१०६।।

अविरतदेशमहाव्रत्यागमरुचीनां विचारतत्त्वानाम् ।
पात्रान्तरं सहस्रं निर्दिष्टं जिनवरेन्द्रैः ।।१०६।।

शब्दार्थ

जिणवरिंदेहिं—जिनेन्द्रदेवों के द्वारा; **अविरददेसमहव्वय**—अविरत, देशविरत, महाव्रत, **आगमरूइणं**—आगमरुचिक (और); **वियारतच्चण्हं**—तत्त्व-विचारक (आदि), **सहस्सं**—सहस्र; **पत्तंतरं**—पात्रान्तर; **णिद्दिट्ठं**—निर्दिष्ट (किए गए है)।

पात्रों के भेद

भावार्थ—जिनेन्द्रदेव ने पात्रों के कई भेद बतलाए है; जैसे कि अविरती, देशव्रती, महाव्रती, आगमरुचिक और तत्त्वविचारक, इत्यादि हजारों अन्य पात्र कहे गए है ।

१. °महव्वइ 'फ' 'म'। २. °हरुन 'अ' 'प' 'फ' 'ब' 'म'। ३. °वेयारतच्चण्हं 'अ' 'म'। ४. °पत्तंतर 'म'। °पत्तंतर 'ब'।

ण सहंति इयरदप्पं[1] थुवंति अप्पाणमप्प[2]माहप्पं ।
जिब्भणिमित्तं कुणंति ते साहू सम्मउम्मुक्का ।।९८।।

न सहन्ते इतरदर्पं स्तुवन्ति आत्मानमात्ममाहात्म्यं ।
जिह्वानिमित्तं कुर्वन्ति ते साधवः सम्यक्त्वोन्मुक्ताः ।।९८।।

शब्दार्थ

(जो साधु) **इयरदप्पं**—दूसरे (के) बड़प्पन को; **ण**—नही, **सहंति**—सहन करते; **अप्पाणं**—अपने को; **अप्पमाहप्पं**—अपने माहात्म्य को; **थुवंति**—सराहते हैं (और); **जिब्भणिमित्तं**—जिह्वा (स्वाद) के निमित्त; **कुणंति**—प्रयत्न करते हैं; **ते**—वे, **साहु**—साधु; **सम्म**—सम्यक्त्व (से); **उम्मुक्का**—उन्मुक्त (हैं) ।

स्वार्थी-शरीरपोषक साधु नहीं होते

भावार्थ—जो साधु दूसरे के महत्त्व को सहन नहीं करते, केवल अपने माहात्म्य की सराहना करते है और भोजन के निमित्त प्रयत्न करते हैं, वे साधु सम्यक्त्व से रहित हैं ।

१ °विद्दए 'ग' । °विट्ठये 'ब' । २° अप्पणप्प 'म' 'व' ।।

भुंजेइ[1] जहा लाहं लहेइ जइ णाणसंजमणिमित्तं[2] ।
झाणज्झयणणिमित्तं अणयारो मोक्खमग्गरओ[3] ॥९९॥

भुक्ते यथालाभ लभते यतिः ज्ञानसंयमनिमित्तं ।
ध्यानाध्ययननिमित्तं अनगारो मोक्षमार्गरतः ॥९९॥

शब्दार्थ

जइ—यति (साधु), **जहा लाभं**—यथा लाभ (जो कुछ प्राप्त होता है, वह), **भुंजेइ**—भोजन करता है (और वह); **णाणसंजम**—ज्ञान, संयम (के), **णिमित्तं**—निमित्त, **लहेइ**—ग्रहण करता (है); **मोक्खमग्ग**—मोक्षमार्ग (मे), **रओ**—रत, **अणयारो**—साधु; **झाणज्झयण**—ध्यानाध्ययन (के); **णिमित्तं**—निमित्त, **लहेइ**—ग्रहण करता (है) ।

उत्तम मुनि का लक्षण

भावार्थ—साधु को यथासमय जो आहार उपलब्ध होता है, वह उस का ही भोजन करता है । यह भोजन भी वह ज्ञान, सयम की आराधना के निमित्त ग्रहण करता है । मोक्षमार्ग मे लीन रहने वाला साधु केवल ध्यान-अध्ययन के हेतु भोजन ग्रहण करता है । यथार्थ मे वह भोजन की आकाक्षा नही रखता है ।

१° मुजइ 'म' 'व' । २° णाणमयमणिमित्तं 'घ' । ३°. मोक्खमग्गरवो 'ग' 'व' ।

उयरग्गि[1] समणमक्ख[2] मक्खण गोयरि[3] सब्भपूरणभमरं[4] ।
णाऊण तप्पयारे[5] णिच्चेवं[6] भुंजए भिक्खू[7] ॥१००॥

उदराग्निशमनं अक्षम्रक्षणं गोचार श्वभ्रपूरणं भ्रमरं ।
ज्ञात्वा तत्प्रकारान् नित्यमेवं भुङ्क्ते भिक्षुः ॥१००॥

शब्दार्थ

भिक्खू—मुनि; **उयरग्गिसमणं**—उदराग्नि-शमन; **अक्खमक्खण**—इन्द्रिय-स्निग्धता; **गोयरि**—गोचरी; **सब्भपूरण**—श्वभ्रपूरण; **भमरं**—भ्रामरी (और); **तप्पयारे**—उसके प्रकारों (को); **णाऊण**—जान कर, **णिच्चेवं**—नित्य (प्रतिदिन) ही; **भुंजए**—आहार ग्रहण करे।

तथा

भावार्थ—मुनि को उदराग्नि की शान्ति के लिए, इन्द्रियों की स्निन्धता के लिए, गाय के समान केवल आहार पर दृष्टि रखकर, उदर रूपी गड्ढे को भरने के लिए भ्रमर के समान किसी को कष्ट न देते हुए आहारवृत्ति के इन भेदों को जान कर नित्य आहार ग्रहण करना चाहिए।

---

१. °उवरग्गि 'अ' 'घ' 'प' 'फ' 'ब' । °उदरग्गि 'ग' । २ °मक्खं 'अ' 'म' 'व'। ३ °गोयार 'व' °रोयार 'म'। ४. °भरणं 'ब' । ५. °तप्पयाराणं 'व'। ६ °णिण्णिच्चेव 'म'। ७ °भिक्खु 'ग' 'घ'।
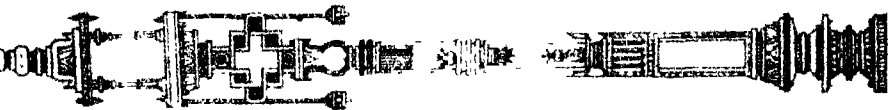
रसरुहिरमंसमेदट्ठि[1]सुकिलमलमुत्तपूयकिमिबहुलं[2] ।
दुग्गंधमसुइचम्ममयमणिच्च[3]मचेयणं पडणं[4] ॥१०१॥
बहुदुक्खभायणं कम्मकारणं भिण्णमप्पणोदेहो[5] ।
तं देहं[6] धम्माणुट्ठाणकारणं चेदि[7] पोसए भिक्खू ॥१०२॥

रसरुधिरमासमेदाऽस्थिशुक्रमलमूत्रपूयकृमिवहुलम् ।
दुर्गन्धमशुचिचर्ममयमनित्यमचेतनं पतनं ॥१०१॥
वहुदुःखभाजनं कर्मकारणं भिन्नमात्मनोदेहः ।
त देहं धर्मानुष्ठानकारणं चेति पोषयेत् भिक्षुः ॥१०२॥

शब्दार्थ

देहो—शरीर; **रसरुहिरमंस**—रस, रुधिर, मास, **मेदट्ठिसुकिल**—मेदा, अस्थि, शुक्र, **मलमुत्तपूय**—मल, मूत्र, पीब, **किमिबहुलं**—कृमियो से भरा (हुआ), **दुग्गंधमसुइ**—दुर्गन्ध, अशुचि; **चम्ममयं**—चर्ममय; **अणिच्चमचेयणं**—अनित्य (व) अचेतन, **पडणं**—पतन (शील); **बहुदुक्खभायणं**—बहुत दुःखों का पात्र; **कम्मकारणं**—कर्मों का कारण, **अप्पणो भिण्णं**—आत्मा से भिन्न (है); **तं देहं**—उस शरीर को, **भिक्खू**—मुनि: **धम्माणुट्ठाणकारणं**—धर्म-सेवन के कारण, **चेदि**—ऐसा (जान कर), **पोसए**—पोषण करता (है) ।

मोह नहीं करते

भावार्थ—यह शरीर रस, रक्त, माँस, मेदा, हड्डी, वीर्य, मल-मूत्र, पीव, कृमियों से भरा हुआ दुर्गन्धित, अपवित्र, चमड़ा वाला, अनित्य, अचेतन, पतनशील, बहुत दुःखों का पात्र, कर्मों का कारण और आत्मा से भिन्न है। केवल धर्म-सेवन में निमित्त होने के कारण मुनि इसका पोषण करता है।

१. °मेदट्ठिमज्ज 'ब' 'म' 'व'। २. °कुल 'ग' 'प'। ३. °मणच्च 'म'। ४. °पदणं 'क'। ५. °देहं 'अ' 'घ' 'प' 'फ' 'म' 'व'। ६. °देहीह 'म'। °देहेह 'व'। ७. °चेइ 'व'।

वयगुणसीलपरीसहजयं च चरियं[1] तवं छडावसयं[2] ।
झाणज्झयणं सव्वं सम्मविणा जाण भवबीयं ॥१११॥

व्रतगुणशीलपरीषहजयं च चारित्रं तपः षडावश्यकानि ।
ध्यानाध्ययनं सर्वं सम्यक्त्वं विना जानीहि भवबीजं ॥१११॥

शब्दार्थ

वय—व्रत; **गुण**—गुण, **सील**—शील; **परीसहजयं**—परीषहजय; **चरियं**—चारित्र; **तवं**—तप; **च**—और; **छडावसयं**—छह आवश्यक (क्रियाएँ), **झाणज्झयणं**—ध्यान-अध्ययन, **सव्वं**—सब; **सम्म**—सम्यक्त्व—(के), **विणा**—बिना, **भवबीयं**—भव का बीज, **जाण**—जानो ।

सम्यक्त्व (शुद्धि) के बिना सब क्रियाएं व्यर्थ

भावार्थ—सम्यग्दर्शन के अभाव मे व्रत, गुण, शील, परीषहजय (दुःख सहना), चारित्र, तप, ध्यान-अध्ययन और देव-पूजा, गुरु की उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान देना (सामायिक, स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कार्योत्सर्ग), ये सभी संसार के कारण है ।

१. °चरियं च 'म' 'व' । २ °मडावमय 'ब' । °छडावम्मय 'ग' ।

खाई[1] पूया[2] लाहंसक्कारा‍इं किमिच्छसे[3] जोई ।
इच्छसि[4] जइ परलोयं तेहिं किं तुज्झ परलोयं ।।११२।।

ख्याति पूजां लाभ सत्कारादि किमिच्छसि योगिन् ।
इच्छसि यदि परलोक तै कि तव परलोकः ।।११२।।

शब्दार्थ

जोई—हे योगी! . **जइ**—यदि, **परलोयं**—पर लोक को, **इच्छसि**—चाहते हो (तो), **खाई**—ख्याति, **पूया**—पूजा, **लाहं**—लाभ, **सक्काराइं**—सत्कारादि को, **किमिच्छसे**—क्यो चाहते हो ? **किं**—क्या, **तेहिं**—उनसे, **तुज्झ**—तुझे, **परलोयं**—परलोक (अच्छा जन्म प्राप्त होगा ?) ।

यश, पूजा, आदि के लोभ से नहीं

भावार्थ—हे योगी ! यदि परलोक सुधारना चाहते हो तो कीर्ति, पूजा, लाभ, सत्कार, आदि की इच्छा मत रखो । क्योंकि इनसेअगला अच्छा जन्म प्राप्त नही होगा ।

१. खाइ 'म' 'व' । २. पुजा 'म' 'व' । ३. किमिच्छए 'ग' । किमिच्छसे सो 'व' ४. इच्छइ 'ग' ।
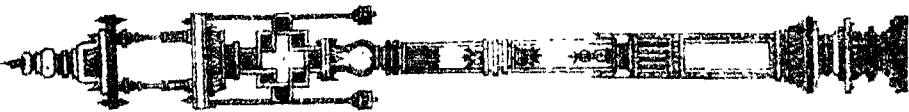
कम्माद-विहाव-सहावगुणं जो भाविऊण[1] भावेण ।
णिय[2] सुद्धप्पा रुच्चइ तस्स य णियमेण होइ णिव्वाणं ।।११३।।

कर्मात्मविभावस्वभावगुणं यो भावयित्वा भावेन ।
निजशुद्धात्मा रोचते तस्य च नियमेन भवति निर्वाणम् ।।११३।।

शब्दार्थ

जो—जो (जिस मुनि को), **कम्माद**—कर्म से (जनित), **विहाव**—विभाव (और); **सहावगुणं**—स्वभाव गुण को; **भावेण**—भाव पूर्वक, **भाविऊण**—मनन कर; **य**—और, **णिय**—निज, **सुद्धप्पा**—शुद्धात्मा; **रुच्चइ**—रुचता (है); **तस्स**—उस के; **णियमेण**—नियम से; **णिव्वाणं**—निर्वाण; **होइ**—होता (है)।

स्वभाव-विभाव की पहचान से निर्वाण

भावार्थ—जो मुनि कर्मजनित विभाव और स्वाभाविक स्वभाव गुण को भावपूर्ण भाते हैं तथा निज शुद्धात्मा में रुचि रखते है, वे ही नियम से मुक्ति प्राप्त करते है ।

---

१. °भावियूण 'म' 'व' । २. °णय 'म' ।

मूलुत्तरुत्तरदव्वादो[1] भावकम्मदो मुक्को ।
आसवबंधणसंवरणिज्जर जाणेइ[2] किं बहुणा ।।११४।।

मूलोत्तरोत्तरद्रव्यतो भावकर्मतो मुक्त· ।
आस्रवबंधनसंवरनिर्जराः जानीहि कि वहुना ।।११४।।

शब्दार्थ

मूलुत्तरुत्तरदव्वादो—(कर्मों की) मूल (और) उत्तर (प्रकृतियो तथा); उत्तरोत्तर द्रव्यकर्म से (एवं); **भावकम्मदो**—भाव कर्म से, **मुक्को**—मुक्त (जीव), **आसव**—आस्रव, **बंधण**—बन्ध: **संवर**—मवर; **णिज्जर**—निर्जरा, **जाणेइ**—जानता (है), **किं बहुणा**—अधिक क्या (कहना ?)

कर्मोन्मुक्त तत्त्वों को जानता है

भावार्थ—कर्मो की मूल और उत्तर प्रकृतियों से द्रव्य रूप मे तथा उत्तरोत्तर द्रव्यकर्म रूप प्रकृतियो से एवं भावकर्म से मुक्त जीव आस्रव, वन्ध, मंवर और निर्जरा तत्त्वों को जानता है । अधिक क्या कहना ?

---

१. °मूलुत्तरुत्तरुत्तरदव्वादो 'म' 'व' । २. °जाणेइ 'ग' 'प' । °मेयं जाणीह 'म' । °मेयं जाणेइ 'ग' °जाणेह 'क' ।

उवसमणिरीहझाणज्झयणाइ महागुणा जहादिट्ठा ।
जेंसि ते मुणिणाहा उत्तमपत्ता तहा भणिया ॥१०७॥

उपशमनिरीहध्यानाध्ययनादि महागुणा यथा दृष्टाः ।
येषां ते मुनिनाथा उत्तमपात्राणि तथा भणिताः ॥१०७॥

शब्दार्थ

जहा—यथा; **जेंसि**—जिन (मे), **उवसम**—उपशम (समता), **णिरीह**—निरीह (इच्छारहित); **झाणज्झयणाइ**—ध्यान-अध्ययन आदि, **महागुणा**—महान् गुण, **दिट्ठा**—देखे (जाते है); **तहा**—तथा, **ते**—वे; **मुणिणाहा**—मुनिनाथ, **उत्तमपत्ता**—उत्तम पात्र, **भणिया**—कहे गए (है)।

उत्तम गुण : उत्तम पात्र

भावार्थ-जिनमे समता भाव, अनिच्छा, ध्यान-अध्ययन आदि महान् गुण लक्षित होते है, वे मुनिनाथ उत्तम पात्र कहे गए हैं ।

ण वि जाणइ जिण-सिद्ध-सरूवं तिविहेण तह णियप्पाणं ।
जो तिव्वं कुणइ तवं सो हिंडइ[1] दीहसंसारे ॥१०८॥

नापि जानाति जिनसिद्धस्वरूपं त्रिविधेन तथा निजात्मानम् ।
यस्तीव्रं करोति तपः स. हिण्डते दीर्घसंसारे ॥१०८॥

शब्दार्थ

जो—जो (व्यक्ति), **जिण**—जिन (को), **सिद्ध-सरूवं**—सिद्ध-स्वरूप को, **तह**—तथा, **णियप्पाणं**—निज आत्मा को, **तिविहेण**—तीन प्रकार से (बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के भेद से); **ण वि**—नहीं ही, **जाणइ**—जानता है, **सो**—वह, **तिव्वं**—तीव्र (घोर); **तवं**—तप (करता हुआ भी), **दीहसंसारे**—दीर्घ संसार में, **हिंडइ**—भ्रमण करता (है)।

भेद-विज्ञान के बिना संसारी

भावार्थ—जो व्यक्ति जिन के, सिद्ध के और अपनी आत्मा के स्वरूप को बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के भेद से नहीं जानता, वह घोर तप करता हुआ भी चिर काल तक संसार में भ्रमण करता रहता है।

१ हिंडदि 'ब'।

णिच्छयववहारसरूवं जो रयणत्तयं ण जाणइ[1] सो ।
जं कीरइ तं मिच्छारूवं सव्वं जिणुद्दिट्ठं ।।१०९।।

निश्चयव्यवहारस्वरूपं यो रत्नत्रयं न जानाति सः ।
यत्करोति तन्मिथ्यारूपं सर्वंजिनोद्दिष्टम् ।।१०९।।

शब्दार्थ

जो—जो (व्यक्ति); **रयणत्तयं**—रत्नत्रय को, **णिच्छयववहार**—निश्चय, व्यवहार; **सरूवं**—स्वरूप (से), **ण**—नहीं, **जाणइ**—जानता (है); **सो**—वह, **जं**—जो (कुछ), **कीरइ**—करता (है); **तं**—वह, **सव्वं**—सव, **मिच्छारूवं**—मिथ्या रूप (है) (ऐसा), **जिणुद्दिट्ठं**—जिन (देव) ने कहा (है)।

रत्नत्रय : निश्चय, व्यवहार

भावार्थ—जो व्यक्ति रत्नत्रय के व्यवहार और निश्चय स्वरूप को नहीं जानता हुआ जो कुछ भी करता है, वह सव मिथ्यारूप होता है—ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है ।

---

१. जाणेइ 'ग'।

किं जाणिऊण सयलं तच्चं किच्चा तवं च किं बहुलं ।
सम्मविसोहिविहीणं णाणतवं जाण भवबीयं ॥११०॥

कि ज्ञात्वा सकलं तत्त्वं कृत्वा तपश्च कि बहुल ।
सम्यक्त्वविशुद्धिविहीनं ज्ञान तपं जानीहि भवबीजं ॥११०॥

शब्दार्थ

सयलं—सकल (सम्पूर्ण), **तच्चं**—तत्त्व को, **जाणिऊण**—जान कर (भी); **किं**—क्या ? **च**—और; **बहुलं**—विपुल, **तवं**—तप, **किच्चा**—कर के (भी); **किं**—क्या ? **सम्मविसोहि**—सम्यक्त्व की विशुद्धि; **विहीणं**—विहीन, **णाण**—ज्ञान, तव—तप को; **भवबीयं**—भव का बीज, **जाण**—जानो।

सम्यक्त्व-विशुद्धि से ही आत्महित

भावार्थ—सम्पूर्ण तत्त्वों को जान लेने से भी क्या लाभ है ? और घोर तप करने से भी कोई लाभ नहीं है। सम्यक्त्व की शुद्धि के बिना ज्ञान और तप संसार के कारण हैं।

विसयविरत्तो मुंचइ विसयासत्तो ण मुंचए जोई[1] ।
बहिरंतरपरमप्पाभेयं जाणेह[2] किं बहुणा ॥११५॥

विषयविरक्तो मुच्यते विषयासक्तो न मुच्यते योगी ।
वहिरन्तःपरमात्मभेदं जानीहि कि वहुना ॥११५॥

शब्दार्थ

विसयविरत्तो—विषयों से विरक्त, **जोई**—योगी (विषयों को), **मुंचइ**—छोड़ता (है), **विसयासत्तो**—विषयासक्त, **ण**—नहीं, **मुंचइ**—छोड़ता (है); (इसलिए), **बहिरंतर**—बहिरात्मा, अन्तरात्मा (और); **परमप्पा**—परमात्मा (के), **भेयं**—भेद (को), **जाणेह**—जानो; **बहुणा किं**—अधिक (कहने से) क्या ?

भेदविज्ञानी योगी विरक्त होता है

भावार्थ–विषयों से विरक्त योगी विषयो को छोड़ देता है, किन्तु विषयासक्त नहीं छोड़ता है । इसलिए बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के भेदों को जानकर विषयों से विरक्त होना चाहिए । अधिक कहने से क्या लाभ ?

१. °जोऊ 'म' । २ °जाणीह 'म' । °जाणहि 'घ' 'ब' ।

णियअप्पणाणझाणज्झयण[1] - सुहामियरसायणप्पाणं ।
मोत्तूणक्खाणसुहं[2] जो भुंजइ सो हु बहिरप्पा ॥११६॥

निजआत्मज्ञानध्यानाध्ययनसुखामृतरसायनपानम् ।
मुक्त्वा अक्षाणां सुखं यो भुंक्ते स हि बहिरात्मा ॥११६॥

शब्दार्थ

णिय—निज; **अप्प**—आत्मा (के लिए); **णाण**—ज्ञान, **झाणज्झयण**—ध्यान-अध्ययन; **सुहामिय**—शुभ अमृत, **रसायणप्पाणं**—रसायन-पान को, **मोत्तूण**—छोड़ कर; **जो**—जो (मनुष्य); **अक्खाण-सुहं**—इन्द्रियों के सुख को; **भुंजइ**—भोगता (है), **सो**—वह; **हु**—(निश्चय) ही, **बहिरप्पा**—बहिरात्मा (है)।

आत्मज्ञानी : अन्तरात्मा (अन्तर्मुख)

भावार्थ—जो स्वयं के आत्मज्ञान के लिए ध्यान-अध्ययन रूपी शुभ अमृत रसायन-पान को छोड़ कर इन्द्रियों के सुख भोगने में रत रहता है, वह निश्चय ही बहिरात्मा है।

---

१ °णिय अप्पा णाणज्झयण 'घ' 'प'। °णिय अप्पाणज्झाणज्झयण 'व'। २. °सहं 'म'।

किंपायफलं पक्कं विसमिस्सिदमोदमिव[1] चारुसुहं[2] ।
जिब्भसुहं दिट्ठिपियं जह तह[3] जाणक्खसोक्खं वि[4] ।।११७।।

किंपाकफलं पक्वं विषमिश्रितमोदकमिव चारुसुखं ।
जिह्वासुखं दृष्टिप्रियं यथा तथा जानीहि अक्षसौख्यमपि ।।११७।।

शब्दार्थ

जह—जैसे; **पक्कं**—पका हुआ; **किंपायफलं**—किम्पाकफल; **विसमिस्सिद**—विषमिश्रित; **मोदमिव**—मोदक के समान (देखने में); **चारुसुहं**—सुन्दर शुभ (तथा); **जिब्भसुहं**—जीभ को सुख (कर); **दिट्ठिपियं**—दृष्टिप्रिय (होता है), **तह**—वैसे; **अक्खसोक्खं**—इन्द्रियसुख, **वि**—भी; **जाण**—जानो।

बहिरात्मा : बहिर्मुख

भावार्थ—इन्द्रियो के सुख इन्द्रायण के फल तथा विषमिश्रित मोदक की भाँति होते है, जो बाहर से सुन्दर और भीतर से विषयुक्त होने के कारण घातक होते हैं।

१. °विस मिसिय गिदवारुण 'ग' 'घ' 'प'। °विसमिस्सिदमोदगिद्द 'म' 'व'। २. °वारुणि सोई 'म' 'व'। ३. °जहा तहा 'म' 'व'। ४ °जाण अक्खसोक्खं हि 'म' 'व'।

देहकलत्तंपुत्तंमित्ताइं[1] विहावचेदणा[2]रूवं ।
अप्पसरूवं भावइ सो चेव हवेइ बहिरप्पा ।।११८।।

देहं कलत्रं पुत्र मित्रादि विभावचेतनारूपम् ।
आत्मस्वरूपं भावयति स हि भवेत् बहिरात्मा ।।११८।।

शब्दार्थ

(जो व्यक्ति) **देह**—शरीर, **कलत्तं**—पत्नी, **पुत्तं**—पुत्र, **मित्ताइं**—मित्रादि (और), **विहावचेदणा-रूवं**—विभाव-चेतना रूप को, **अप्पसरूवं**—आत्मस्वरूप, **भावइ**—भाता (है), **सो**—वह, **चेव**—ही, **बहिरप्पा**—बहिरात्मा; **हवेइ**—होता (है)।

और

भावार्थ—जो मनुष्य शरीर को, स्त्री को, पुत्र को, मित्रादि को और पर-पदार्थों को अपना या आत्मस्वरूप मानता है, वह निश्चय ही बहिरात्मा है ।

१. °मत्तादि 'ग'। २ °विहावचेदणो 'म' 'व'। °विहावचेदना 'ग'।

इंदियविसयसुहाइसु[1] मूढमई रमइ ण लहइ तच्चं ।
बहुदुक्खमिदि ण चिंतइ सो चेव हवेइ बहिरप्पा ।।११९।।

इंद्रियविषयसुखादिषु मूढमतिः रमते न लभते तत्त्वम् ।
बहुदुःखमिति न चिंतयति स एव भवति बहिरात्मा ।।११९।।

शब्दार्थ

मूढमई—मूढ़ बुद्धि; **इंदियविसय**—इन्द्रिय के विषय; **सुहाइसु**—सुखादि में; **रमइ**—लीन होता (है) (और), **तच्चं**—तत्त्व को; **ण**—नही, **लहइ**—प्राप्त करता (है), (जो मनुष्य इन्द्रियविषय), **बहुदुक्खमिदि**—बहुत दुःख (जनक है) ऐसा, **ण**—नही; **चिंतइ**—विचार करता (है), **सो**—वह; **चेव**—ही; **बहिरप्पा**—बहिरात्मा, **हवेइ**—होता (है)।

और भी

भावार्थ—मूढ़ बुद्धि वाला व्यक्ति इन्द्रियों के विषयों मं रम जाता है, जिससे तत्त्व ग्रहण नहीं कर पाता और वह इन्द्रिय-विषयों को दुःखरूप भी नही मानता है। ऐसा जीव बहिरात्मा होता है।

१. °सुहादिसु 'म' 'व'।

जेंसि अमेज्झमज्झे उप्पण्णाणं हवेइ तत्थ रुई[1] ।
तह बहिरप्पाणं बहिंरिंदिय विसएसु होइ मई ॥१२०॥

येषां अमेध्यमध्ये उत्पन्नानां भवति तत्र रुचिः ।
तथा बहिरात्मनां बहिरिन्द्रियविषयेषु भवति मतिः ॥१२०॥

शब्दार्थ

जेंसि—जैसे; **अमेज्झ**—विष्टा (के); **मज्झे**—मध्य में, **उप्पण्णाणं**—उत्पन्न हुए (कीडे की); **तत्थ**—उसमें (विष्टा में); **रुई**—रुचि, **हवेइ**—होती है; **तह**—वैसे; **बहिरप्पाणं**—बहिरात्माओ की (रुचि), **बहिंरिंदिय**—बाह्येन्द्रिय—(विषयों में), **मई**—मति (बुद्धि); **होइ**—होती (है)।

बहिरात्मा की रुचि बाह्य होती है

भावार्थ—जैसे विष्टा में उत्पन्न होने वाले कीड़े की रुचि उस विष्टा में होती है, उसी प्रकार बहिरात्मा की रुचि तथा बुद्धि, इन्द्रियों के विषयों में होती है।

१. तत्थेव 'अ' 'फ' 'ब' 'म' 'व'। तन्थेव रुइ 'ग'। २. °रुई 'अ' 'ग' 'फ' 'म' 'व'।
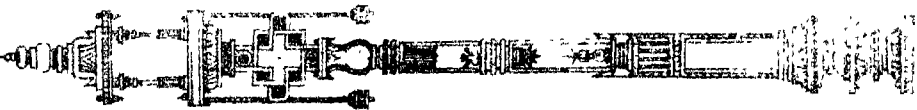
सिविणे[1] वि ण भुंजइ[2] विसयाइं देहाइभिण्णभावमई ।
भुंजइ[3] णियप्परूवो[4] सिवसुहरत्तो दु मज्झिमप्पो सो ॥१२१॥

स्वप्नेऽपि न भुंक्ते विषयान् देहादिभिन्नभावमतिः ।
भुंक्ते निजात्मरूपं शिवसुखरक्तस्तु मध्यमात्मा सः ॥१२१॥

शब्दार्थ

(जो) **सिविणे**—स्वप्न मे, **वि**—भी; **विसयाइं**—विषयो को, **ण**—नही; **भुंजइ**—भोगता (है और); **देहाइभिण्ण**—देहादि से भिन्न; **भावमई**—भावयुक्त (है और); **सिवसुहरत्तो**—शिव-सुख में रत (है) (एवं); **णियप्परूवो**—निजात्म रूप (को); **भुंजइ**—भोगता (अनुभव करता है); **सो**—वह; **दु**—तो; **मज्झिमप्पो**—मध्यम आत्मा (है) ।

मध्यमात्मा : मध्यम परमात्मा ?

भावार्थ—जो स्वप्न मे भी विषयो का सेवन नही करता है और शरीर आदि से भिन्न अपनी आत्मा को मानता है तथा मोक्ष-सुख में लीन अपनी आत्मा का अनुभव करता है, वह मध्यम अन्तरात्मा है ।

१. °सिविणि 'व'। २ °भुंजइ 'म'। °भुज्जइ 'व'। ३. °भुंजइ 'म'। °भुज्जइ 'व'। ४. °णियप्परूओ 'अ' 'फ' 'व'। °णिय अप्पभावो 'ग'।
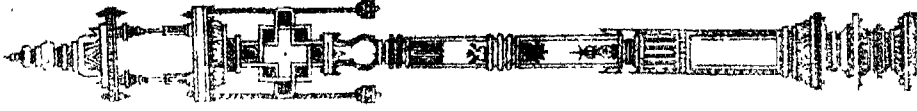
मलमुत्तघडव्वचिरं वासिय दुव्वासणं ण मुंचेइ ।
पक्खालिय सम्मत्तजलो यण्णाणम्मएण[1] पुण्णो वि ॥१२२॥

मलमूत्रघटवत् चिरवासितां दुर्वासना न मुंचति ।
प्रक्षालितसम्यक्त्वजलो यज्ज्ञानामृतेन पूर्णोऽपि ॥१२२॥

शब्दार्थ

मलमुत्त—मल-मूत्र (के), **घडव्व**—घड़े की भाँति (जो); **चिरं**—चिर काल (से); **वासिय**—दुर्गन्धित (है अपनी); **दुव्वासणं**—दुर्वासना को, **ण**—नही, **मुंचेइ**—छोड़ता (है); (इसी प्रकार) **यण्णाणम्मएण**—जो ज्ञानामृत मे, **पुण्णो**—पूर्ण (है); **सम्मत्तजलो**—सम्यक्त्व जल (मे), **पक्खालिय**—प्रक्षालित (होने पर), **वि**—भी, (दुर्वासनाओ को नही छोड़ता)।

दुर्वासना एकबारगी सम्यक्त्व-जल से धुलती नहीं

भावार्थ—जिस प्रकार मल-मूत्र का घडा चिर काल मे दुर्गन्धित होने के कारण अपनी दुर्वासना को नही छोडता, उसी प्रकार ज्ञानामृत रूपी सम्यक्त्व जल से धोने पर भी मनुष्य अपनी दुर्वासनाओं को सहसा नही छोड़ता ।

१. °य णाणम्मेएण 'ब'। °महिय णाणम्मिएण 'प'। °वियणाणामिएण 'अ' 'फ' 'म' 'व'।

सम्माइट्ठी णाणी अक्खाणसुहं कहं वि[1] अणुहवइ[2] ।
केणा वि ण[3] परिहारइ वाहिविणासणट्ठभेसज्जं ।।१२३।।

सम्यग्दृष्टिः ज्ञानी अक्षाणां सुखं कथमपि अनुभवति ।
केनापि न परिहारयति व्याधिविनाशार्थभेषज ।।१२३।।

शब्दार्थ

सम्माइट्ठी—सम्यग्दृष्टि, **णाणी**—ज्ञानी, **अक्खाणसुह**—इन्द्रिय सुख को; **कहं वि**—जिस किसी प्रकार; **अणुहवइ**—अनुभव करता (भोगता है) (जैसे कि), **वाहि**—व्याधि (के); **विणासणट्ठ**—विनाशनार्थ; **भेसज्जं**—औषध, **केणा वि**—किसी प्रकार भी, **ण**—नही, **परिहारइ**—छोडी जाती (है) ।

ज्ञानी औषध की भाँति इन्द्रिय-सुख का सेवन करता है

भावार्थ—जो सम्यग्दृष्टि तथा ज्ञानी है, वह परवशता मे इन्द्रियसुख का अनुभव करता है । जिस प्रकार रोग दूर करने के लिए ओषधि का सेवन करना ही पड़ता है, उसी प्रकार ज्ञानी इन्द्रिय-सुख का सेवन करता है ।

---

१. °पि 'म' 'व' । २. °वहइ 'म' 'व' । ३. °तेण विणा 'ग' ।

किं बहुणा हो तजि[1] बहिरप्पसरूवाणि सयलभावाणि ।
भजि मज्झिमपरमप्पा वत्थुसरूवाणि भावाणि ।।१२४।।

कि बहुना अहो त्यज बहिरात्मस्वरूपान् सकलभावान् ।
भज मध्यमपरमात्मान वस्तुस्वरूपान् भावान् ।।१२४।।

शब्दार्थ

हो—अहो[1], **बहिरप्पसरूवाणि**—बहिरात्मा स्वरूप, **सयलभावाणि**—सकल भावो को, **तजि**—छोडो (और), **वत्थुसरूवाणि**—वस्तुस्वरूप, **मज्झिम**—मध्यम (अन्तरात्मा), **परमप्पा**—परमात्मा; **भावाणि**—भावों को, **भजि**—भजो, **बहुणा किं**—बहुत (कहने से) क्या ?

अन्तरात्मा से परमात्मा

भावार्थ—हे भव्यजीव ! बहिरात्मा सम्बन्धी सम्पूर्ण भावों को छोड़कर यथार्थ अन्तरात्मा और परमात्मा भावो का भजन करो । अधिक कहने से क्या लाभ ?

१. तज्जिय 'ग' । २. भज 'म' 'व' । °सजि 'ग' ।

चउगइं[1] संसारगमणकारणभूयाणि[2] दुक्खहेऊणि ।
ताणि हवे बहिरप्पा वत्थुसरूवाणि भावाणि ।।१२५।।

चतुर्गतिसंसारगमनकारणभूताः दुःखहेतवः ।
ते भवन्ति बहिरात्मानः वस्तुस्वरूपाः भावाः ।।१२५।।

शब्दार्थ

(जो) **चउगइ**—चतुर्गति (रूप), **संसार**—संसार (मे), **गमणकारणभूयानि**—परिभ्रमण के कारणभूत (है और), **दुक्ख**—दुःख (के), **हेऊणि**—हेतु (हैं); **ताणि**—वे; **बहिरप्पा**—बहिरात्मा (बहिर्मुखी); **वत्थुसरूवाणि**—वस्तुस्वरूप (के), **भावाणि**—भाव; (वाले) **हवे**—होते (हैं)।

बहिर्मुखी भाव संसार व दुःख के कारण है

भावार्थ—जिन विभावो से ससार की चारो गतियो मे परिभ्रमण होता है और जो दुःख के कारण है, वे सब भाव बहिरात्मा स्वरूप है ।

1. °चउग्गइ 'अ'। 2. °चउभूदाणि 'ग'।
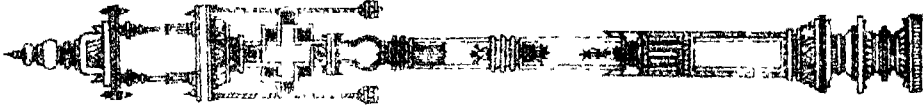
मोक्खगइगमणकारणभूयाणि[1] पसत्थपुण्णहेऊणि ।
ताणि हवे दुविहप्पा वत्थुसरूवाणि भावाणि ॥१२६॥

मोक्षगतिगमनकारणभूता: प्रशस्तपुण्यहेतव: ।
ते भवन्ति द्विविधात्मन: वस्तुस्वरूपा: भावा: ॥१२६॥

शब्दार्थ

(जो) **मोक्खगइ**—मोक्ष गति (में), **गमणकारणभूयाणि**—गमन के कारणभूत (हैं और), **पसत्थ-पुण्ण**—प्रशस्त पुण्य (के), **हेऊणि**—हेतु (है); **ताणि**—वे, **वत्थुसरूवाणि**—वस्तुस्वरूप (आत्म-रूप), **दुविहप्पा**—दो प्रकार आत्मा (के); **भावाणि**—भाव; **हवे**—हैं।

अन्तर्मुखी भाव मुक्ति के हेतु हैं

भावार्थ—जो मोक्षगति के लिए गमन में कारण है और प्रशस्त पुण्य के हेतु हैं, वे ही दो प्रकार के अन्तरात्मा और परमात्मा भाव आत्मरूप से कहे गए हैं।

[1] °भूदाणि 'ग'।
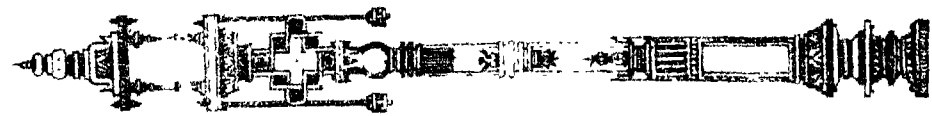
दव्व[1]गुणपज्जएहिं जाणइ परसमयससमयादिविभेयं[2] ।
अप्पाणं जाणइ सो सिवगइपहणायगो होई ॥१२७॥

द्रव्यगुणपर्यायैर्जानाति परसमयस्वसमयादिविभेदम् ।
आत्मानं जानाति सः शिवगतिपथनायको भवति ॥१२७॥

शब्दार्थ

(जो व्यक्ति) **परसमय**—पर-समय, **ससमयादि**—स्व-समय आदि, **विभेयं**—विभेद को; **दव्वगुणपज्जएहिं**—द्रव्य, गुण (और) पर्यायों से, **जाणइ**—जानता (है), **सो**—वह, **अप्पाणं**—आत्मा को; **जाणइ**—जानता है (और), **सिवगइ**—शिवगति (मोक्षगति का); **पहणायगो**—पथनायक, **होई**—होता (है)।

आत्मज्ञ ही शिव होता है

भावार्थ—जो शुद्ध आत्मा, अशुद्ध आत्मा, आदि भेदों को उनकी द्रव्य, गुण और पर्यायों के साथ जानता है, वह अपनी आत्मा को जानता है और आत्मज्ञ मोक्षमार्ग का नायक होता है।

१. °दव्वो 'म' 'व'। २. °ससमयादव्वभेय 'अ'। °समयादि भेय'ग'।

बहिरंतरप्पभेयं परसमयं भण्णए जिणिंदेहिं ।
परमप्पा[1] सगसमयं तब्भेयं जाण[2] गुणट्ठाणे ॥१२८॥

बहिरन्तरात्मभेदः परसमयो भण्यते जिनेन्द्रैः ।
परमात्मा स्वकसमय तद्भेदं जानीहि गुणस्थाने ॥१२८॥

शब्दार्थ

जिणिंदेहिं—जिनेन्द्रदेव के द्वारा, **बहिरंतरप्पभेयं**—बहिरात्मा (और) अन्तरात्मा भेद (में), **परसमयं**—पर-समय, **भण्णए**—कहा गया (है), **सगसमयं**—स्व-समय को; **परमप्पा**—परमात्मा (और); **तब्भेयं**—उसके भेद को, **गुणट्ठाणे**—गुणस्थानो मे, **जाण**—जानो ।

स्वसमय परमात्मा है

भावार्थ—आत्मा के भाव स्वाभाविक और वैभाविक दोनों माने गए है । वैभाविक भावों मे युक्त जीव बहिरात्मा और अन्तरात्मा होता है । अशुभ भाव वाले जीव बहिरात्मा और शुभभाव वाले जीव अन्तरात्मा कहलाते है । ये दोनो ही पर-समय है । स्वसमय तो परमात्मा है । इनके भेद गुणस्थानो के अनुसार समझना चाहिए ।

1. °परमप्पो 'घ' । 2. °जाणए 'अ' 'प' 'फ' 'ब' 'म' 'व' ।

मिस्सोत्ति बाहिरप्पा तरतमया तुरिय[1] अंतरप्पजहण्णा[2] ।
सत्तोत्तिमज्झिमंतर खीणुत्तर[3] परमजिणसिद्धा ॥१२९॥

मिश्रः इति बहिरात्मा तरतमतया तुर्य अन्तरात्मा जघन्यः ।
शान्त इति मध्यमान्तः क्षीणोत्तरः परमाः जिनसिद्धाः ॥१२९॥

शब्दार्थ

मिस्सोत्ति—मिश्र (तृतीय गुणस्थान) तक (के जीव); **बाहिरप्पा**—बहिरात्मा (हैं), **तुरिय**—चतुर्थ (गुणस्थान वाले); **जहण्णा अंतरप्प**—जघन्य अन्तरात्मा (होते है); **सत्तोत्ति**—सात तक (पाँच से ग्यारह गुणस्थान तक); **तरतमया**—तर-तम (रूप) से, **मज्झिमंतर**—मध्यम अन्तरात्मा (होते हैं); **खीणुत्तर**—क्षीण; (बारहवे गुणस्थानी) तथा तेरहवें-चौदहवे (मे); **परमजिणसिद्धा**—सिद्ध परमात्मा (होते हैं)।

भावानुवर्ती गुणस्थान

भावार्थ—प्रथम तीन गुणस्थान वाले जीव बहिरात्मा, चतुर्थ वाले जघन्य अन्तरात्मा और पाँचवे से ग्यारह गुणस्थान तक के जीव तर-तम रूप में मध्यम अन्तरात्मा एवं बारहवें गुणस्थानी उत्तम अन्तरात्मा तथा तेरहवं-चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीव सिद्ध परमात्मा होते हैं।

१. °तरय 'म' 'व'। २. °अंतरप्पजहण्णो 'ग'। अंतरप्पजहणा 'प' 'फ' 'व'। ३. खीणुत्तम 'म' 'व'।

मूढत्तय सल्लत्तय दोसत्तय दंडगारवत्तयेहिं[1] ।
परिमुक्को जोई सो सिवगइपहणायगो[2] होई ॥१३०॥

मूढत्रयशल्यत्रयदोषत्रयदण्डगारवत्रयै. ।
परिमुक्तो योगी सः शिवगतिपथनायको भवति ॥१३०॥

शब्दार्थ

(जो) **जोई**—योगी, **मूढत्तय**—तीन मूढता, **सल्लत्तय**—तीन शल्य, **दोसत्तय**—तीन दोष, **दंडगारवत्तयेहिं**—तीन दड (और तीन) गारवो (मदो) से; **परिमुक्को**—परिमुक्त (रहित) (होता है); **सो**—वह, **सिवगइ**—शिवगति (का); **पहणायगो**—पथनायक (मोक्षमार्ग का नेता); **होई**—होता (है)।

शिवगति-पथनायक

भावार्थ—जो योगी देव, गुरु और लोक मे अन्धविश्वास, माया, मिथ्यात्व तथा निदान शल्य, राग, द्वेष और मोह दोष मे रहित एवं तीन दण्डों व तीन मदों से रहित होता है, वही मुक्तिमार्ग का नेता होता है।

१. °दंडगारवत्तहेहि 'प' 'ब' 'म' 'व'। °दोसत्तय दडत्तय सल्लगारवत्तेहि 'ग'।
२. °सिवगइपयणायगो 'म' 'व'।

रयणत्तयकरणत्तयजोगत्तय[1] गुत्तित्तयविसुद्धेहिं ।
संजुत्तो जोई सो सिवगइपहणायगो होई ।।१३१।।

रत्नत्रयकरणत्रययोगत्रयगुप्तित्रयविशुद्धैः ।
संयुक्तो योगी सः शिवगतिपथनायको भवति ।।१३१।।

शब्दार्थ

(जो) **जोई**—योगी; **रयणत्तय**—रत्नत्रय; **करणत्तय**—करणत्रय; **जोगत्तय**—योगत्रय; (और); **गुत्तित्तय**—गुप्तित्रय (की); **विसुद्धेहिं**—विशुद्धि से, **संजुत्तो**—संयुक्त (होता है); **सो**—वह, **सिवगइ**—शिवगति (का); **पहणायगो**—पथनायक (मोक्ष मार्ग का नेता); **होई**—होता है।

और

भावार्थ—जो योगी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीन रत्नत्रय, अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन करण तथा मन, वचन, कर्म इन तीन योगों एव मन, वचन, काय इन तीन गुप्तियों की विशुद्धि से संयुक्त होता है, वह मोक्ष-मार्ग का नेता होता है।

1. यह 'जोगत्तय' शब्द ही नहीं है—'म' 'व'।

बहिरब्भंतरगंथविमुक्को सुद्धोवजोयसंजुत्तो[1] ।
मूलुत्तरगुणपुण्णो सिवगइपहणायगो होई ।।१३२।।

वहिरभ्यन्तरग्रंथमुक्तः शुद्धोपयोगसयुक्तः ।
मूलोत्तरगुणपूर्णः शिवगतिपथनायको भवति ।।१३२।।

शब्दार्थ

बहिरब्भंतर—बाहरी (और) भीतरी, **गंथ**—परिग्रह (से); **विमुक्को**—विमुक्त (तथा), **सुद्धोवजोय**—शुद्धोपयोग (से), **संजुत्तो**—संयुक्त (एवं); **मूलुत्तरगुणपुण्णो**—मूल (गुण) उत्तर (गुण से) पूर्ण (युक्त), **सिवगइ**—शिवगति (का), **पहणायगो**—पथनायक (मोक्ष मार्ग का नेता); **होई** (होता (है) ।

और भी

भावार्थ—जो बहिरंग-अन्तरंग परिग्रह को छोड़ कर शुद्धोपयोग में लीन रहते हैं तथा जो साधु मूलगुण और उत्तरगुणों से संयुक्त होते हैं. वे मोक्षमार्ग के नेता होते हैं ।

[1]. विसुद्धोवजोयभावरवो 'ग' ।

जंजाइजरामरणं[1] दुहदुट्ठविसाहिविसविणासयरं ।
सिवसुहलाहं सम्मं संभावइ सुणइ साहए साहू ।।१३३।।

यज्जातिजरामरणदु:खदुष्टविषाहिविषनाशकरम् ।
शिवसुखलाभं सम्यक्त्वं संभावयति शृणोति साधक: साधु: ।।१३३।।

शब्दार्थ

जं—जो; **सम्मं**—सम्यक्त्व, **जाइजरामरणं**—जन्म, बुढ़ापा, मरण, **दुहदुट्ठविसाहि**—दु:ख (रूपी) दुष्ट विषधर (के); **विसविणासयरं**—विष (का) विनाशक (है), (तथा) **सिवसुहलाभं**—मोक्ष सुख (का) लाभ (कराने वाला है); (उसे); **साहू**—हे साधु! **संभावइ**—भाओ, **सुणइ**—सुनो (और); **साहए**—साधो।

सम्यक्त्व से सुखलाभ

भावार्थ—जो सम्यग्दर्शन जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु तथा दु:ख रूपी दुष्ट सर्प के विष का नाश करने वाला है एवं मोक्ष-सुख का लाभ कराने वाला है, उस सम्यक्त्व का चिन्तन-मनन, श्रवण तथा साधन-सिद्धि करना चाहिए।

---

[1]. जाणइ जरमरण 'म'। जाइजरमरणं 'व'।

किं बहुणा हो देविंदाहिंद णरिंदगणहरिंदेहि ।
पुज्जा परमप्पा जे तं जाण पहाव[1]सम्मगुणं[2] ॥१३४॥

किं बहुना अहो देवेन्द्राहीन्द्रनरेन्द्रगणधरेन्द्रैः ।
पूज्याः परमात्मानो ये तज्जानीहि प्रभावसम्यक्त्वगुणम् ॥१३४॥

शब्दार्थ

हो—अहो ! , **बहुणा**—बहुत (कहने से) , **किं**—क्या ; **जे**—जो, **परमप्पा**—परमात्मा ; **देविंदाहिंद**—देवेन्द्र, नागेन्द्र ; **णरिंदगणहरिंदेहि**—नरेन्द्र (और) गणधरेन्द्रो से, **पुज्जा**—पूज्य (है) ; **तं**—उसे ; **सम्मगुणं पहाव**—सम्यक्त्व गुण (का) प्रभाव ; **जाण**—जानो ।

सम्यक्त्व का प्रभाव

भावार्थ—अहो ! अधिक कहने से क्या लाभ? जो परमात्मा देवेन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र और गणधरेन्द्रो से पूज्य हैं, वह सब सम्यक्त्व गुण का प्रभाव जानना चाहिए ।

---

१. पहण 'व' । पहाण 'अ' 'प' 'फ' 'ब' । २. मजाणइ पहाण सम्मगुण 'ग' ।
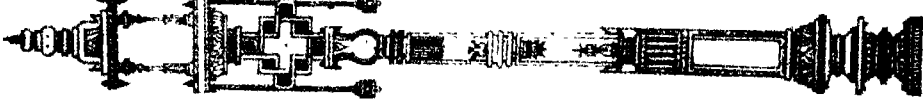
भुत्तो अयोगुलोसइयो[1] तत्तो अग्गिसिखोवमो यज्जे[2] ।
भुंजइ[3] जे दुस्सीला रत्तपिंडं असंजतो[4] ॥१३५॥

भुक्तः अयोगोलसदृशस्तप्तः अग्निशिखोपमः यज्ञे ।
भुनक्ति यः दुश्शीलः रक्तपिण्डः असंयतः ॥१३५॥

शब्दार्थ

जे—जो, **दुस्सीला**—दुःशील मनुष्य, **यज्जे**—यज्ञ में, **अग्गिसिखोवमो**—अग्निशिखोपम; **तत्तो**—तप्त, **अयोगुलोसइयो**—लोहे के गोले के समान, **रत्तपिंडं**—रक्तपिंड (मांस) को, **भुंजइ**—खाता (है) (वह); **असंजतो**—असंयमी (है)।

दुष्कर्मी निरन्तर भोग में मग्न

भावार्थ—जो लोग यज्ञ मे बलि रूप में अग्निशिखा तथा तप्त लोहे के गोले के समान रक्त मास-पिण्ड को खाते हैं, वे असंयमी हैं।

१. °अयोगुलेसइयो 'ग'। २. °एज्जे 'प'। ३. °भुंजए 'ग'। ४. असंजदं 'ग'। °असजयं 'घ'।

उवसमई[1] सम्मत्तं मिच्छत्तबलेण पेल्लए[2] तस्स ।
परिवट्टंति[3] कसाया अवसप्पिणिकालदोसेण ।।१३६।।

उपशमकं सम्यक्त्वं मिथ्यात्वबलेन प्रेरयति तस्य ।
प्रवर्तन्ते कषायाः अवसर्पिणीकालदोषेण ।।१३६।।

शब्दार्थ

अवसप्पिणि—अवसर्पिणी; **कालदोसेण**—काल (के) दोष से (तथा), **मिच्छत्तबलेण**—मिथ्यात्व (के) बल (उदय) से; **तस्स**—उसके (द्वारा), **पेल्लए**—प्रेरित होने पर; (इस जीव के); **सम्मत्तं**—सम्यक्त्व; **उवसमई**—उपशम (समाप्त) हो जाता (है); (और); **कसाया**—कषाय; **परिवट्टंति**—प्रवर्तित हो जाती (हैं)।

कर्मोदय से विकृति

भावार्थ—वर्तमान अवसर्पिणी काल के दोष से तथा मिथ्यात्व के उदय से प्रेरित हुए इस जीव के सम्यक्त्व का उपशमन हो जाता है और कषाय पुनः उत्पन्न हो जाती है।

---

१. °उवसयइ 'घ' 'ब'। °उवमम्मइ 'अ' 'ग'। २. °पेल्लइ 'प'। °पल्लए 'व'।
३. °परिवड्ढंति 'म' 'व'।

गुण-वय-तव[1]-सम[2]-पडिमा-दाणं-जलगालणं अणत्थमियं ।
दंसण-णाण-चरित्तं किरिया तेवण्ण सावया भणिया ।।१३७।।

गुणव्रततप:समप्रतिमादानं जलगालनं अनस्तमितं ।
दर्शनज्ञानचारित्रं क्रियास्त्रिपंचाशत् श्रावकीया: भणिता: ।।१३७।।

शब्दार्थ

गुण-वय-तव-सम-पडिया-दाणं—गुण, व्रत, तप, समभाव, प्रतिमा, दान; **जलगालणं**—पानी छानना; **अणत्थमियं**—अनस्तमित (सूर्यास्त के पश्चात् भोजन नही करना) (और); **दंसण-णाण-चरित्तं**—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान (और) सम्यक्चारित्र; **सावया**—श्रावक (की), **तेवण्ण किरिया**—त्रेपन क्रियाएँ; **भणिया**—कही गई (हैं)।

श्रावक की त्रेपन क्रियाएँ

भावार्थ—अष्ट मूल गुण, बारह व्रत, बारह तप, समता भाव, ग्यारह प्रतिमाएँ, चार दान, पानी छानकर पीना, रात्रि-भोजन नहीं करना, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र ये श्रावक की त्रेपन क्रियाएँ कही गई हैं।

१. तप 'म'। २. सम्म 'व'।

णाणेण झाणसिज्झी[1] झाणादो सव्वकम्मणिज्जरणं ।
णिज्जरणफलं मोक्खं णाणब्भासं तदो कुज्जा ॥१३८॥

ज्ञानेन ध्यानसिद्धिर्ध्यानतः सर्वकर्मनिर्जरणम् ।
निर्जराफलं मोक्षः ज्ञानाभ्यास ततः कुर्यात् ॥१३८॥

शब्दार्थ

णाणेण—ज्ञान से, **झाणसिज्झी**—ध्यान-सिद्धि (होती है और), **झाणादो**—ध्यान से, **सव्वकम्म**—सब कर्मों (की); **णिज्जरणं**—निर्जरा (होती है); **णिज्जरणफलं**—निर्जरा (का) फल; **मोक्खं**—मोक्ष (है); **तदो**—इसलिये, **णाणब्भासं**—ज्ञानाभ्यास, **कुज्जा**—करना चाहिए।

ज्ञानाभ्यास से मुक्ति

भावार्थ—आत्म-कल्याण के लिए ज्ञान प्रमुख है। क्योंकि ज्ञान से ध्यान की सिद्धि होती है और ध्यान से समस्त कर्मों की निर्जरा होती है। निर्जरा का फल मुक्ति की उपलब्धि है। इसलिए सतत ज्ञानाभ्यास करना चाहिए।

1. °सिद्धी 'अ' 'ग' 'घ' 'प' 'फ' 'व'। °सिद्धि 'म' 'व'।

कुसलस्स तवो[1] णिवुणस्स संजमो समपरस्स वेरग्गो ।
सुदभावणेण[2] तत्तिय तम्हा सुदभावणं कुणह[3] ॥१३९॥

कुशलस्य तपः निपुणस्य संयमः शमपरस्य वैराग्यम् ।
श्रुतभावनेन तत्त्रयं तम्माच्छ्रुतभावनां कुर्यात् ॥१३९॥

शब्दार्थ

कुसलस्स—कुशल (व्यक्ति) के, **तवो**—तप (होता है); **णिवुणस्स**—निपुण के, **संजमो**—संयम (और), **समपरस्स**—समभावी के; **वेरग्गो**—वैराग्य (होता है) (किन्तु), **सुदभावणेण**—श्रुत की भावना से, **तत्तिय**—तीनों (होते हैं); **तम्हा**—इसलिये; **सुदभावणं**—श्रुतभावना (श्रुताभ्यास); **कुणह**—करनी चाहिए।

शास्त्राभ्यास से तप, संयम

भावार्थ—साधक कुशल व्यक्ति तप साध लेता है और निपुण मनुष्य संयम पालन करने में सफल हो जाता है। इसी प्रकार समताभावी सहज ही वैराग्य प्राप्त कर लेता है। परन्तु श्रुत के अभ्यास से मनुष्य तप, संयम और वैराग्य तीनों को उपलब्ध कर लेता है। इसलिए श्रुत का अभ्यास करना चाहिये।

१. °तओ 'घ' 'प' 'म' 'व'। २. °सुदभावेण 'ग'। ३. °कणह 'म'। °कणहु 'व'।

कालमणंतं जीवो मिच्छत्तसरूवेण[1] पंचसंसारे ।
हिंडदि[2] ण लहइ[3] सम्मं संसारब्भमणपारंभो ॥१४०॥

कालमनन्तं जीवो मिथ्यात्वस्वरूपेण पंचससारे ।
हिण्डते न लभते सम्यक्त्वं संसारभ्रमणप्रारंभः ॥१४०॥

शब्दार्थ

जीवो—जीव, **मिच्छत्तसरूवेण**—मिथ्यात्वस्वरूप (होने) से, **कालमणंतं**—अनन्त काल (तक); **पंच संसारे**—पच परावर्तन (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव) संसार मे, **हिंडदि**—भ्रमण करता है (और), **सम्मं**—सम्यक्त्व, **ण**—नही, **लहइ**—प्राप्त करता (है) (इसमे); **संसारब्भमण**—संसार (का) भ्रमण; **पारंभो**—बना रहता (है)।

सम्यक्त्व न होने से संसार-भ्रमण

भावार्थ—यह जीव मिथ्यात्व से लिप्त होने के कारण आत्मस्वरूप को प्राप्त नहीं करता और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव तथा भाव मे संक्रमण करता हुआ संसार मे भ्रमण करता रहता है। संसार-परिभ्रमण का निवारण सम्यक्त्व से होता है। किन्तु यह सम्यक्त्व प्राप्त नही करता, इसलिए इसका संसार-परिभ्रमण बना रहता है।

---

१. °मिच्छसरूवेण 'म' 'व'। २ °हिंडइ 'म' 'व'। ३. °लहदि 'ग'।

सम्मद्दंसणसुद्धं जाव दु लभदे[1] हि ताव सुही[2] ।
सम्मद्दंसणसुद्धं जाव ण लभदे हि ताव दुही[3] ॥१४१॥

सम्यग्दर्शनं शुद्ध यावत्तु लभते हि तावत् सुखी ।
सम्यग्दर्शन शुद्धं यावन्न लभते हि तावत् दुःखी ॥१४१॥

शब्दार्थ

जाव—जब (प्राणी); **सुद्धं**—शुद्ध, **सम्मद्दंसण**—सम्यग्दर्शन, **लभदे**—प्राप्त करता (है); **दु**—तो; **ताव**—तब, **हि**—निश्चय (से), **सुही**—सुखी (होता है), (और) **जाव**—जब तक; **सुद्धं**—शुद्ध; **सम्मद्दंसण**—सम्यग्दर्शन; **ण**—नहीं; **लभदे**—प्राप्त करता है; **ताव**—तब तक, **दुही**—दुखी (रहता है)।

शुद्ध सम्यग्दर्शन से सुख

भावार्थ—जब तक यह जीव शुद्ध सम्यग्दर्शन नहीं प्राप्त करता है, तब तक दुखी रहता है और जब शुद्ध सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है, तब सुखी होता है।

१. °जावदुवलब्भदे 'म' 'व'। २. °तदा हि सुही 'म' 'व'। °तहो हि सुहं 'ग'।
३. °दुक्खी 'घ' 'व'। °दुखी 'म'। °देहि ता दुक्ख 'ग'।

किं बहुणा वयणेण[1] दु[2] सव्वं दुक्खेव[3] सम्मत्तविणा ।
सम्मत्तेण संजुत्तं[4] सव्वं सोक्खेव जाण खु[5] ॥१४२॥

किं बहुना वचनेन तु सर्वं दुःखमेव सम्यक्त्वं विना ।
सम्यक्त्वेन संयुक्तं सर्वं सौख्यमेव जानीहि खलु ॥१४२॥

शब्दार्थ

बहुणा—बहुत, **वयणेण**—वचन (कहने) से, **किं**—क्या (लाभ), **सम्मत्त**—सम्यक्त्व (के); **विणा**—बिना, **दु**—तो, **सव्वं**—सब, **दुक्खेव**—दुःख ही (है), **खु**—निश्चय (ही); **सम्मत्तेण**—सम्यक्त्व से, **संजुत्तं**—संयुक्त; **सव्वं**—सब, **सोक्खेव**—सुख ही; **जाण**—जानो।

और

भावार्थ—अधिक कहने से क्या लाभ है ? बिना सम्यक्त्व के तो सब दुःख ही है । निश्चय से सम्यक्त्व सहित होने पर ही सब सुख जानना चाहिए ।

१. °वचणेण 'अ' 'ग' 'घ' 'प' 'फ' 'ब' 'व' । २. °तु 'ग' 'घ' 'व' । ३. °दुक्खं च 'ग' । ४ °विजुत्तं 'अ' 'प' 'फ' 'ब । ५. °तु 'अ' 'ग' ।

णिक्खेवणयपमाणं सद्दालंकारछंदलहियाणं[1] ।
णाडय[2]पुराणकम्मं सम्मविणा[3] दीहसंसारं ।।१४३।।

निक्षेपनयप्रमाणं शब्दालकारं छन्दशः लब्धम् ।
नाटकपुराणकर्म सम्यक्त्वं विना दीर्घसंसारः ।।१४३।।

शब्दार्थ

णिक्खेव—निक्षेप, **णय**—नय, **पमाणं**—प्रमाण; **सद्दालंकार**—शब्दालकार, **छंद**—छन्द (का ज्ञान); **लहियाणं**—प्राप्त किये के; **णाडय**—नाटक (अभिनय-प्रदर्शन), **पुराण**—शास्त्र (ज्ञान); **कम्मं**—कर्म (क्रियाएँ), **सम्मविणा**—सम्यक्त्व (के) बिना, **दीह**—दीर्घ—**संसारं**—ममार (है)।

सम्यक्त्व के बिना सब दुःखदायी है

भावार्थ—निक्षेप (आरोप), नय (प्रमाणांश), प्रमाण, शब्दालकार, छन्द, नाटक, पुराण शास्त्र, आदि का ज्ञान तथा चारित्र सम्यक्त्व के बिना चिरकाल तक संसार के कारण है।

१. °नहि पुण्ण 'अ' 'ग' 'घ' 'प' 'फ' 'ब'। २ °णाऊण 'घ' 'प' 'फ'। ३. °मम्मविणा जाण 'व'।

वसदी[1] पडिमोवयरणे[2] गणगच्छे समयसंघजाइकुले ।
सिस्सपडिसिस्सछत्ते सुयजाते[3] कप्पडे पुत्थे ।।१४४।।
पिच्छे संत्थरणे[4] इच्छासु[5] लोहेण कुणइ[6] ममयारं ।
यावच्च अट्टरुद्दं[7] ताव ण मुँचेदि[8] ण हु सोक्खं ।।१४५।।

वसति प्रतिमोपकरणे गणगच्छे समयसघजातिकुले ।
शिष्यप्रतिशिष्यच्छात्रे सुतजाते कर्पटे पुस्तके ।।१६१।।
पिच्छिकायां सस्तरे इच्छासु लोभेन करोति ममकारं ।
यावच्च आर्तरौद्रं तावन्न मुच्यते न हि सुख ।।१६२।।

शब्दार्थ

(यदि माधु) **वसदी**—वसतिका (बस्ती), **पडिमोवयरण**—प्रतिमोपकरण मे; **गणगच्छे**—गण-गच्छ मे, **समयसंघ**—शास्त्र, मघ; **जाइकुले**—जाति-कुल मे; **सिस्सपडिसिस्सछत्ते**—शिष्य, प्रतिशिष्य, छात्र में; **सुयजाते**—सुत, प्रपौत्र मे, **कप्पडे**—कपडे मे; **पुत्थे**—पोथी; (पुस्तक) मे, **पिच्छे**—पीछी मे, **संत्थरणे**—सस्तर (बिस्तर) मे, **इच्छासु**—इच्छाओ मे, **लोहेण**—लोभ से, **ममयारं कुणइ**—ममत्व करता है; **यावच्च**—और जब तक, **अट्टरुद्दं**—आर्त-रौद्र (ध्यान); **ण मुंचेदि**—नही छोड़ता है, **ताव सोक्खं ण हु**—तब तक सुख नही (होता) है ।

इच्छाओं से सुख नहीं

भावार्थ—जब तक व्यक्ति को ससार के पदार्थो की इच्छा है, तब तक उसे मोक्ष का सुख प्राप्त नही हो सकता ।

---

१. °वसइ 'अ' 'घ' 'प' 'फ' 'ब' 'व'। °वसइ 'म'। २. °पडिमोउवयरणे 'घ' 'म' 'व'। ३. °जादे 'व'। °जात 'अ' 'फ' 'ब'। ४. °सन्थरणे 'म' 'व'। ५. °इच्चाइसुहेण 'घ'। ६. °कुणय 'घ'। ७ °तावच्च वट्टरुद्द 'अ' 'घ' 'प' 'फ' 'ब'। °यावत्तवट्टरुद्दं 'म'। °यावत्थ वट्टरुद्द 'ब' ८ °मुचेनि 'घ' 'फ'। °मुच्चंति 'म'। °मुंचति 'व'।

मिहिरो महंधयारं[1] मरुदो मेहं महावणं दाहो[2] ।
वज्जो[3] गिरिं जहा विणसिज्जइ सम्मं तहा[4] कम्मं ।।१४६।।

मिहिरो महान्धकारं मरुत् मेघ महावनं दाहः ।
वज्रो गिरि यथा विनाशयति सम्यक्त्वं तथा कर्म ।।१४६।।

शब्दार्थ

जहा—जैसे, **मिहिरो**—सूर्य, **महंधयारं**—बड़े भारी अन्धकार को; **मरुदो**—पवन, **मेहं**—मेघ को; **दाहो**—अग्नि, **महावणं**—महावन को; **वज्जो**—वज्र, **गिरिं**—पर्वत को, **विणसिज्जइ**—नष्ट कर देता है; **तहा**—वैसे (ही), **सम्मं**—सम्यग्दर्शन; **कम्मं**—कर्म को (नष्ट करता है)।

कर्म-तिमिर के विनाश के लिए सम्यक्त्व-सूर्य

भावार्थ—सम्यग्दर्शन अत्यन्त सघन अज्ञान-अन्धकार को उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जिस प्रकार सूर्य बड़े भारी अंधेरे को, वायु मेघ को, अग्नि महावन को और वज्र पर्वत को नष्ट कर देता है।

१. °महघयारो 'व'। २. °डाहो 'घ'। ३. °वज्जं 'ञ' 'घ' 'प' 'फ'। ४. °जहा 'ग' 'ब'।

मिच्छंधयाररहियं हियय[1] मज्झम्मिय सम्मरयणदीवकलावं ।
जो पज्जलइ स दीसइ[2] सम्मं लोयत्तयं जिणुद्दिट्ठं ।।१४७।।

मिथ्यात्वान्धकाररहितहृदयमध्ये एव सम्यक्त्वरत्नदीपकलपम् ।
यो ज्वालयति सः पश्यति सम्यक् लोकत्रय जिनोद्दिष्टं ।।१४७।।

शब्दार्थ

जो—जो (जीव), **हिययमज्झम्मिय**—हृदय के मध्य में, **मिच्छंधयाररहियं**—मिथ्यात्व-अन्धकार से रहित, **सम्मरयणदीवकलावं**—सम्यक्त्व-रत्न-दीपक समूह को, **पज्जलइ**—प्रज्वलित (करता है), **स**—वह; **लोयत्तयं**—तीन लोको को, **सम्मं**—भलीभाँति, **दीसइ**—देखता (है), (ऐसा), **जिणुद्दिट्ठं**—जिनेन्द्रदेव (ने) कहा (है)।

सम्यक्त्व-प्रकाश से दर्शन

भावार्थ—जो अपने मानस में सम्यक्त्व-रत्नरूपी दीपक के आलोक को प्रकाशमान कर लेता है, उसको तीनों लोकों के सम्पूर्ण पदार्थ अपने आप प्रतिभासित होने लगते है—यह जिन-वाणी है ।

१. [1]हिय 'अ' । [1]गिह 'प' 'फ' । [1]हियधिय 'व' । [1]हियय घेम 'म' । २. [2]पदीसइ 'अ' 'घ' 'प' 'फ' 'व' 'म' । [2]पदिस्सइ 'व' ।

पवयणसारब्भासं परमप्पज्झाणकारणं जाण[1] ।
कम्मक्खवणणिमित्तं कम्मखवणे[2] हि मोक्ख[3]सुहं[4] ॥१४८॥

प्रवचनसाराभ्यासं परमात्मध्यानकारणं जानीहि ।
कर्मक्षपणनिमित्तं कर्मक्षपणे हि मोक्षसुखं ॥१४८॥

शब्दार्थ

पवयणसारब्भासं—प्रवचनसार का अभ्यास, **परमप्पज्झाणकारणं**—परमात्मा के ध्यान मे कारण; **जाण**—जानो (और ध्यान); **कम्मक्खवण**—कर्म-क्षय (मे), **णिमित्तं**—निमित्त (है); **कम्मक्खवणे**—कर्म-क्षय होने पर; **हि**—ही; **मोक्खसोक्खं**—मोक्ष का सुख (मिलता है)।

स्वात्मानुभूति का अभ्यास

भावार्थ—आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति का अभ्यास परमात्मा के ध्यान में कारण है अर्थात् स्वसंवेदन-अनुभूति का अभ्यास करने से ही परम आत्मा का ध्यान होता है। इस प्रकार परम आत्मा के ध्यान से कर्मों का क्षय होता है और सभी कर्मों का क्षय होने पर मुक्ति का अनन्त, अविनाशी सुख मिलता है।

१. जाणं 'घ'। झाणा 'म'। जाणा 'व'। २. कम्मक्खवणं 'म'। ३. ण हि 'म'। ४. सुख 'घ'।

धम्मज्झाणब्भासं करेइ[1] तिविहेण भाव[2]सुद्धेण ।
परमप्पझाणं[3] चेतो[4] तेणेव खवेइ कम्माणि ।।१४९।।

धर्मध्यानाभ्यासं करोति त्रिविधेन भावशुद्धेन ।
परमात्मध्यानं चित्तो तेनैव क्षपयति कर्माणि ।।१४९।।

शब्दार्थ

(यदि) **तिविहेण**—मन, वचन, काय (तथा) ; **भावसुद्धेण**—भाव की शुद्धिपूर्वक, **धम्मज्झाणब्भासं**—धर्म ध्यान का अभ्यास, **करेइ**—करता है (तो), **तेणेव**—उसी मे; **परमप्पझाण चेतो**—(शुक्ल) (श्रेष्ठ) ध्यान मे (लगा हुआ) चित्त; **कम्माणि**—कर्मों का; **खवेइ**—क्षय करता है।

धर्मध्यान से परमात्मा

भावार्थ—जब साधक मन, वाणी और देह की शुद्धि करके धर्मध्यान (शुद्ध आत्मा का ध्यान) का अभ्यास करता है तब उसी ध्यान से शुक्ल (श्रेष्ठ) ध्यान में सलग्न हो कर्मों का क्षय कर देता है।

---

१. °कहेहि 'म' । २. °जाव 'अ' 'ग' 'प' 'ब' । ३. °परमप्पज्झाण 'ब' । ४. °चेट्ठो 'घ' 'फ' । °जट्ठो 'म' ।
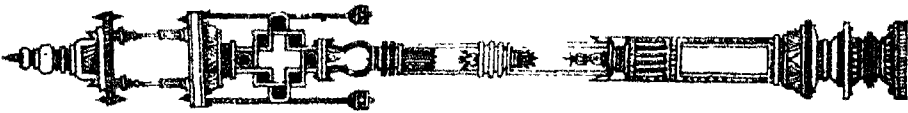
जिणलिंगधरो[1] जोई विराय[2] सम्मत्तसंजुदो[3] णाणी ।
परमोवेक्खाइरियो[4] सिवगइपहणायगो[5] होइ ॥१५०॥

जिनलिंगधरो योगी विराग सम्यक्त्वसंयुतो ज्ञानी ।
परमोपेक्षाचार्यः शिवगतिपथनायको भवति ॥१५०॥

शब्दार्थ

जिणलिंगधरो—जिन-मुद्राधारक, **जोई**—योगी (है); **विरायसम्मत्त**—वैराग्य सम्यक्त्व (से); **संजुदो**—संयुक्त; **णाणी**—ज्ञानी (है); (और); **परमोवेक्खा**—परमोपेक्षा (धारी); **आइरियो**—आचार्य (है); (ऐसा योगी); **सिवगइपहणायगो**—शिव-गति-पथ-नायक (मोक्षमार्ग का नेता); **होइ**—होता (है)।

जिनमुद्राधारक योगी मोक्षनायक होता है

भावार्थ—जो नग्न दिगम्बर अवस्था को धारण करते है, जिनके अन्तरंग मे वैराग्य प्रकट हो गया है और जो शुद्ध सम्यक्त्वी तथा ज्ञानी हैं, ऐसे परम वैरागी योगी ही मोक्षमार्ग के नेता होते है।

१. °जिणलिंगहरो 'अ' 'ग' 'घ' 'प' 'फ' 'ब'। २ °विरत्त 'ग'। ३. °संजदो 'व'। ४. °रहियो 'ग'। ५. °सिव-गइपयणायगो 'म'।

कामदुहिं कप्पतरुं चिंतारयणं रसायणं परमं[1] ।
लद्धो भुंजइ सोक्खं जं इच्छियं[2] जाण तह सम्मं ॥१५१॥

कामदुह कल्पतरुं चिन्तारत्नं रसायनं परमम् ।
लब्ध्वा भुक्ते सुखं यदेच्छ जानीहि सम्यक्त्वम् ॥१५१॥

शब्दार्थ

(जिस प्रकार) **कामदुहिं**—कामधेनु; **कप्पतरुं**—कल्पवृक्ष, **चिंतारयणं**—चिन्तामणि रत्न (और); **परमं**—श्रेष्ठ; **रसायणं**—रसायन (को). **लद्धो**—प्राप्त (कर); **जं**—जो; **इच्छियं**—इच्छित; **सोक्खं**—सुख को; भुंजइ—भोगता है; **तह**—उसी (प्रकार से); **सम्मं**—सम्यग्दर्शन (को); **जाण**—जानो।

सम्यक्त्व से कामना-सिद्धि

भावार्थ—जैसे कामधेनु, कल्पवृक्ष, चिन्तामणि रत्न और श्रेष्ठ रसायन मनवांछित फल को प्रदान करते है, वैसे ही सम्यग्दर्शन से अभिलषित सुख की प्राप्ति होती है।

१. °य समं 'क'। °रसपरमं 'अ' 'घ' 'प' 'फ'। २. °जइच्छयं 'म'। °जइच्छेयं 'व'। °जं इच्छिय 'अ' 'घ' 'प' 'फ'।
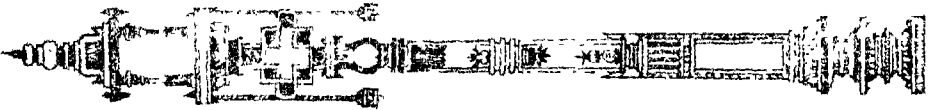
सम्मत्तणाणवेरग्ग तवो[1]भावं णिरोहवित्तिचरित्तस्स[2] ।
गुणसीलसहावं उप्पज्जइ रयणसारमिणं ॥१५२॥

(क्षेपक)

सम्यक्त्वं ज्ञानं वैराग्यतपोभावं निरीहवृत्तिचारित्रं ।
गुणशीलस्वभावं उत्पादयति रत्नसारोऽयं ॥१५२॥

शब्दार्थ

रयणसारमिणं—यह रयणसार (ग्रन्थ), **सम्मत्तणाण**—सम्यक्त्व, ज्ञान; **वेरग्गतवोभावं**—वैराग्य, तप भाव (और); **णिरोहवित्ति**—निरीह वृत्ति (वीतराग); **चरित्तस्स**—चारित्र के; **गुणसीलसहावं**—गुण-शील (और) स्वभाव को; **उप्पज्जइ**—उत्पन्न करता (है) ।

रयणसार के अभ्यास से निर्मलता

भावार्थ—इस रयणसार ग्रन्थ के अभ्यास से मुमुक्षु को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, वैराग्य, तप और वीतराग चारित्र की प्राप्ति होती है ।

---

१. °तओ 'अ' 'घ' 'प' 'फ' 'ब' 'म' । २. चारित्तं 'अ' 'प' 'ब' ।
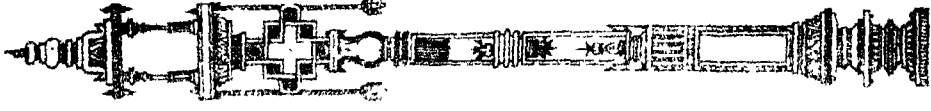
रयणत्तयमेव गणं गच्छं गमणस्स[1] मोक्खमग्गस्स ।
संघो गुण संघादो[2] समयो खलु णिम्मलो अप्पा ॥१५३॥

रत्नत्रयमेव गणः गच्छः गमनस्य मोक्षमार्गस्य ।
संघो गुणसंघातः समयः खलु निर्मलः आत्मा ॥१५३॥

शब्दार्थ

रयणत्तयमेव—रत्नत्रय ही, **गणं**—गण (है), **मोक्खमग्गस्स**—मोक्षमार्ग का (में); **गमणस्स**—गमन, **गच्छं**—गच्छ (है), **गुणसंघादो**—गुण-संघात (समूह); **संघ**—संघ (है); (और) **खलु**—निश्चय (से), **णिम्मलो**—निर्मल, **अप्पा**—आत्मा; **समयो**—समय (सम्यक् रूप से गमन) (है)।

निर्मल आत्मा रत्नत्रय है

भावार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय ही गण है, मोक्ष-मार्ग में गमन गच्छ है, गुणों का समूह संघ है और निश्चय से निर्मल आत्मा समय है।

1. °गमणं हि 'ग'। °गम्मस्स 'क'। 2. °संघाओ 'म' 'व'।
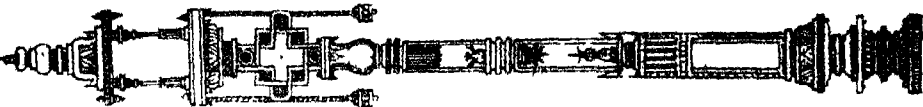
गंथमिणं जो ण [1]दिट्ठइ ण हु मण्णइ ण हु सुणेइ [2]ण हु पढइ [3] ।
ण हु चिंतइ ण हु भावइ सो चेव हवेइ [4] कुद्दिट्ठी [5] ।।१५४।।

(क्षेपक)

ग्रंथमिमं यो न पश्यति न हि मन्यते न हि शृणोति न हि पठति ।
न हि चिंतयति न हि भावयति स चैव भवति कुदृष्टिः ।।१५४।।

शब्दार्थ

जो—जो (व्यक्ति), **गंथमिणं**—इस ग्रन्थ को; **ण**—नही; **दिट्ठइ**—देखता है; **ण हु**—नही, **मण्णइ**—मानता है; **ण हु**—नही; **सुणेइ**—सुनता है; **ण हु**—नही; **पढइ**—पढ़ता है; **ण हु**—नही; **चिंतइ**—चिन्तन करता है, **ण हु**—नहीं; **भावइ**—भाता है; **सो**—वह (व्यक्ति); **चेव**—ही; **कुद्दिट्ठी**—मिथ्यादृष्टि; **हवेइ**—होता है।

यह ग्रन्थ

भावार्थ—जो मनुष्य इस ग्रन्थ को पढ़ते-सुनते, देखते-मानते या चिन्तन-मनन नहीं करते है, उनकी दृष्टि नही पलटती है ।

१. °जिण 'ग' । २. °सुणइ 'व' । ३. °पढइ 'अ' 'ज' 'घ' 'प' 'फ' 'ब' 'व' । ५. °कुद्दिट्ठी 'व' ।

इदि[1] सज्जणपुज्जं[2] रयणसारगंथं[3] णिरालसो णिच्चं ।
जो पढइ सुणइ भावइ सो[4] पावइ सासयं ठाणं[5] ।।१५५।।

इति सज्जनपूज्यं रत्नसारं ग्रंथं निरालसो नित्यम् ।
यः पठति शृणोति भावयति सः प्राप्नोति शाश्वतं स्थानम् ।।१५५।।

शब्दार्थ

इदि—इस प्रकार; **सज्जणपुज्जं**—सज्जनो (के द्वारा) पूज्य, **रयणसारगंथं**—रयणसार ग्रन्थ को; **जो**—जो (मनुष्य); **णिरालसो**—आलस्य रहित (होकर), **णिच्चं**—सदा (नित्य), **पढइ**—पढता (है); **सुणइ**—सुनता (है); **भावइ**—मनन करता (है), **सो**—वह (मनुष्य); **सासयं**—शाश्वत; **ठाणं**—स्थान (मुक्ति), (को) **पावइ**—पाता (है) ।

सुख-प्राप्ति में निमित्त कारण है

भावार्थ—जो मनुष्य सज्जनों के द्वारा आदरणीय इस रयणसार ग्रन्थ को निरालस होकर सदा पढ़ता है, सुनता है, मनन-चिन्तन करता है, वह शाश्वत सुख के स्थान मुक्ति को प्राप्त करता है ।

---

१. °इय 'ग' । २. °पुण्ण 'व' । ३. °रयणसारं गंथं 'अ' 'ग' 'प' 'फ' 'व' । °रयणसार गंथं 'ज' । ४. °वण्णइ भावइ 'ज' । ५ °मामयट्ठाण 'ज' ।

प्रक्षिप्त गाथाएँ

[अगले पृष्ठों पर मुद्रित गाथाएं आ० कुन्दकुन्द की मूल रचना प्रतीत न होने के कारण अलग से दी जा रही हैं। ये गाथाएं बाद मे मिला दी गई है । प्राचीन प्रतियों में इनमे से अधिकतर गाथाएं नही मिलती है ।]
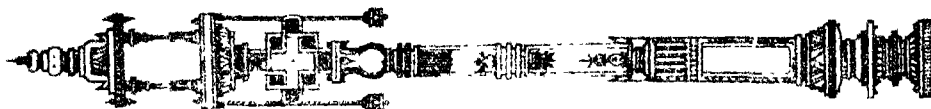
उहयगुणवसणभयमलवेरग्गाइचार–भत्तिविग्घं वा ।
एदेसत्तत्तरिया दंसणसावयगुणा भणिया ।।१।।

उभयगुणव्यसनभयमलवैराग्यातिचारभक्तिविघ्नानि वा ।
एते सप्तसप्ततिः दर्शनश्रावकगुणाः भणिता. ।।१।।

शब्दार्थ

उहयगुण—दोनों गुण (आठ मूलगुण, बारह उत्तर गुण), **वसणभयमलवेरग्गाइचार**—कुटेव (सात व्यसन), भय (सात भय), मल (पच्चीस दोष) (से रहित) वैराग्य भावना (युक्त), अतिचार (रहित); **वा**—और; **भत्तिविग्घं**—विघ्न (रहित) भक्ति, **एदे**—ये, **सत्तत्तरिया**—सतत्तर; **दंसणसावय**—दर्शन (सम्यग्दृष्टि श्रावक के): **गुणा**—गुण, **भणिया**—कहे गए है।

सम्यग्दृष्टि श्रावक के गुण

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि श्रावक के आठ प्रकार के मूलगुण और बारह प्रकार के उत्तर गुण कहे गए है। ऐसा श्रावक सात व्यसन, सात भय, पच्चीस दोष और पाँच प्रकार के अतिचारों से रहित तथा वैराग्यभावना एवं निर्विघ्न भक्ति से युक्त होता है। ये सतत्तर गुण सम्यग्दृष्टि श्रावक के कहे गए है।

इच्छियफलं ण लब्भइ जइ लब्भइ सो ण भुंजदे णियदं ।
वाहीणमायरो सो पूयादाणाइदव्वहरो ॥ २ ॥

इच्छितफलं न लभते, यदि लभते, स न भुक्ते नियतम् ।
व्याधीनामाकरः सः पूजादानादिद्रव्यहरः ॥१॥

शब्दार्थ

पूयादाणाइ—पूजा, दानादि (के), **दव्वहरो**—द्रव्य को हरने वाला; **इच्छियफलं**—इच्छित फल को; **ण**—नही, **लब्भइ**—प्राप्त करता है, **जइ**—यदि, **लब्भइ**—प्राप्त करता है (तो); **सो**—वह; **णियदं**—वास्तविक; **ण**—नहीं; **भुंजदे**—भोग पाता (है) (इसलिए), **वाहीणमायरो**—व्याधियों की खान (होता है)।

और भी

भावार्थ—जो पूजा, दान आदि के द्रव्य को हरता है, वह मनवांछित फल नही पाता । यदि कभी इच्छित फल मिल भी जाता है, तो वह उसे भोग नहीं पाता है किन्तु विविध व्याधियों से पीड़ित होता है ।

णिरयतिरियाइदुग्गदलिद्दवियलंगहाणिदुक्खाइं ।
देवगुरुसत्थवंदण--सुयभेय-सज्झायविग्घफलं ॥३॥

नरकतिर्यग्गतिदुर्गतिदारिद्र्यविकृताङ्गहानिदुःखानि ।
देवगुरुशास्त्रवन्दना–श्रुतभेद–स्वाध्यायविघ्नफलं ॥३॥

शब्दार्थ

णिरयतिरियाइ—नरक, तिर्यंच (गति); **दुग्गइ**—दुर्गति; **दलिद्द**—दरिद्र, **वियलंग**—विकलांग, **हाणि**—हानि; **दुक्खाइं**—दुःख; **देवगुरुसत्थवंदण**—देव (वन्दन), गुरु (वन्दन), शास्त्र-वन्दन; **सुयभेय**—श्रुतभेद (और), **सज्झाय**—स्वाध्याय (मे), **विग्घफलं**—विघ्न (का) फल (है)।

स्वाध्याय में विघ्न डालने से

भावार्थ—जो मनुष्य सच्चे देव, शास्त्र, गुरुओं मे दोष लगाते है और शास्त्र-स्वाध्यायादि मे विघ्न डालते है, वे नरक, तिर्यंच आदि दुर्गतियों में जाते है और दरिद्र, हीन अंग वाले होकर तरह-तरह की हानि व दुःख भोगते हैं ।

कुतवकुलिंगकुणाणीकुवयकुसीलकुदंसणकुसत्थे ।
कुणिमित्ते संथुय थुइ पसंसणं सम्महाणि होइ णियमं ।।४।।

कुतपः कुलिग कुज्ञानि कुव्रतकुशील कुदर्शन कुशास्त्रे ।
कुनिमित्ते संस्तुत स्तुतिः प्रशंसनं सम्यक्त्वहानिर्भवति नियमेन ।।४।।

शब्दार्थ

कुतव—मिथ्यातप (करने); **कुलिंग**—खोटा वेश (धरने); **कुणाणी**—मिथ्या ज्ञानी, **कुवय**—खोटा व्रत; **कुसील**—खोटा स्वभाव; **कुदंसण**—मिथ्या दर्शन; **कुसत्थे**—खोटे शास्त्र (और); **कुणि-मित्ते**—खोटे निमित्त मे; **संथुय**—संस्तुति, **थुइ**—स्तुति, **पसंसणं**—प्रशंसा (करने से); **णियमं**—नियम (से); **सम्महाणि**—सम्यक्त्व (की) हानि, **होइ**—होती (है)।

मिथ्या कार्यों से धर्म-हानि

भावार्थ—झूठा तप करने से, खोटा वेश धारण करने से, मिथ्याज्ञानी होने से, खोटा व्रत, खोटा स्वभाव, विपरीत श्रद्धान करने से और खोटे-शास्त्र तथा खोटे निमित्त की स्तुति पूजा करने से निश्चय ही सम्यक्त्व की हानि होती है।

कतकफलभरियणिम्मल जलं ववगय कालिया सुवण्णं च[1] ।
मलरहिय सम्मजुत्तो भव्ववरो लहइ लहु मोक्खं ॥५॥

कतकफलभृतनिर्मल जलं व्यपगतकालिकं सुवर्ण च ।
मलरहितसम्यक्त्वयुतो भव्यवरो लभते शीघ्र मोक्षम् ॥५॥

शब्दार्थ

कतकफल—निर्मली (से), **भरिय**—भरित (युक्त), **णिम्मल जलं**—निर्मल जल (की भाँति) (और), **ववगय**—दूर हो गई (है), **कालिया**—कालिमा (जिससे ऐसे), **सुवण्णं**—स्वर्ण (के समान), **मलरहिय**—मल रहित (निर्दोष); **सम्मजुत्तो**—सम्यग्दर्शन युक्त, भव्ववरो—भव्योत्तम (प्राणी), **लहु**—शीघ्र; **मोक्खं**—मोक्ष को, **लहइ**—प्राप्त करता (है) ।

आत्म-विशुद्धि

भावार्थ—जिस प्रकार निर्मली डालने से पानी निर्मल हो जाता है, अग्नि और सुहागा के संयोग मे स्वर्ण शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार निर्दोष सम्यग्दर्शन से युक्त भव्य जीव शीघ्र ही निर्मल आत्मा को अर्थात् मुक्ति को प्राप्त कर लेता है ।

१ सुवण्णच्च 'ग' 'व' ।

सम्माइट्ठी कालं बोलइ वेरग्गणाणभावेण ।
मिच्छाइट्ठी वांछा दुब्भावालस्स कलहेंहिं ।।६।।

सम्यग्दृष्टि: कालं गमयति वैराग्यज्ञानभावेन ।
मिथ्यादृष्टि: वाञ्छादुर्भावालस्यकलहै: ।।६।।

शब्दार्थ

सम्माइट्ठी—सम्यग्दृष्टि, **वेरग**—वैराग्य (और), **णाणभावेण**—ज्ञान भाव से; **कालं**—समय; **बोलइ**—बिताता (है); (और) **मिच्छाइट्ठी**—मिथ्यादृष्टि, **वांछा**—आकांक्षा, **दुब्भावालस्स**—दुर्भावना, आलस्य (और); **कलहेंहिं**—कलह (मे), (अपना समय बिताता है) ।

धर्मी और पापी

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जीव अपना समय वैराग्य और ज्ञान भाव में व्यतीत करता है, किन्तु मिथ्यादृष्टि अपना सारा समय आकांक्षा, दुर्भावना, आलस्य और कलह में नष्ट कर देता है ।

सम्मत्तगुणाइ सुग्गइ मिच्छादो होइ दुग्गई णियमा ।
इदि जाण किमिह बहुणा जं ते रुच्चइ तं कुणहो ।।७।।

सम्यक्त्वगुणतः सुगतिः मिथ्यात्वतो भवति दुर्गतिर्नियमात् ।
इति जानीहि किमिह बहुना यत्तुभ्य रोचते तत्कुरु ।।७।।

शब्दार्थ

सम्मत्तगुणाइ—सम्यक्त्व गुण से, **सुग्गइ**—स्वर्ग गति (और), **मिच्छादो**—मिथ्यात्व से, **णियमा**—नियम से; **दुग्गई**—दुर्गति, **होइ**—होती (है), **इदि**—ऐसा, **जाण**—जान (कर), **इह**—यहाँ; **बहुणा**—अधिक (कहने से), **किं**—क्या (लाभ), **जं**—जो; **ते**—तुझे; **रुच्चइ**—अच्छा लगता (है); **तं**—वह; **कुणहो**—कर।

विवेकपूर्वक करें

भावार्थ—सम्यग्दर्शन से सद्‌गति मिलती है और मिथ्यादर्शन (अज्ञानता) से नियम से दुर्गति मिलती है। अतः यह जानकर अधिक कहने से क्या लाभ ? जो रुचे वह करना चाहिए।

मोह ण छिज्जइ अप्पा दारुणकम्मं करेइ बहुवारं ।
ण हु पावइ भवतीरं किं बहुदुक्खं वहेइ मूढमई ।।८।।

मोहं न छिनत्ति आत्मा दारुणकर्म करोति बहुवारं ।
न हि प्राप्नोति भवतीरं कि बहुदुःखं वहति मूढमतिः ।।८।।

शब्दार्थ

(यह) **अप्पा**—आत्मा (जीवात्मा), **मोह**—मोह (का), **ण**—नहीं; **छिज्जइ**—क्षय करता (है) (किन्तु); **दारुणकम्मं**—दारुण कर्म को, **बहुवारं**—अनेक बार, **करेइ**—करता (है); (इसलिए प्राणी) **भवतीरं**—संसार (का) किनारा; **ण हु**—नहीं ही; **पावइ**—पाता (है) और; **मूढमई**—मूढ़ मति; **किं**—कैसे; **बहुदुक्खं**—अनेक दु:ख; **वहेइ**—भोगता (है) ।

दुःख का कारण मोह

भावार्थ—मूढ़ बुद्धि वाला यह प्राणी मोह को तो नष्ट नही करता और दारुण कर्म को अनेक बार करता है, इसलिए संसार से पार उतरने के लिए उसे किनारा नही मिलता है और वह कई तरह के दु:ख भोगता है ।

चम्मट्ठिमंसलवलुद्धो सुणहो गज्जए मुणिं दिट्ठा ।
जह पाविट्ठो सो धम्मिट्ठं दिट्ठा सगीयट्ठा ।।९।।

चर्मास्थिमांसलवलुब्ध: शुनक: गर्जति मुनिं दृष्ट्वा ।
यथा पापिष्ठ: स धर्मिष्ठं दृष्ट्वा स्वकीयार्थ: ।।९।।

शब्दार्थ

जह—जैसे, **चम्मट्ठिमंसलव**—चर्म, अस्थि, मास के खंड (का), **लुद्धो**—लोभी; **सुणओ**—श्वान (कुत्ता); **मुणिं**—मुनि को; **दिट्ठा**—देखकर, **गज्जए**—भोंकता (है); (उसी प्रकार जो) **पाविट्ठो**—पापिष्ठ (पापी) (है); **सो**—वह, **धम्मिट्ठं**—धर्मस्थित (धर्मात्मा) (को), **दिट्ठा**—देखकर, **सगीयट्ठा**—स्वार्थ (अपना मतलब), (सिद्ध करता है)।

पापी अपने जैसा देखता है

भावार्थ—जिस प्रकार चाम, हड्डी और मांस के टुकड़े का लोभी कुत्ता मुनि को देखकर भोंकता है, उसी प्रकार पापी व्यक्ति धर्मात्मा को देखकर स्वार्थवश उससे लड़ाई-झगड़ा करता है।

दंसणसुद्धो धम्मज्झाणरदो संगवज्जिदो णिसल्लो ।
पत्तविसेसो भणियो ते गुणहीणो दु विवरीदो ।।१०।।

दर्शनशुद्धो धर्मध्यानरतः संगवर्जितो निःशल्यः ।
पात्रविशेषो भणितः तैर्गुणैः हीनस्तु विपरीतः ।।१०।।

शब्दार्थ

दंसणसुद्धो—सम्यग्दर्शन से शुद्ध, **धम्मज्झाणरदो**—धर्म-ध्यान में रत; **संगवज्जिदो**—परिग्रह रहित; **णिसल्लो**—निःशल्य; **पत्तविसेसो**—पात्र विशेष; **भणियो**—कहे गए (हैं); **गुणहीणो**—गुणों से हीन (हैं); **ते**—वे; **दु**—तो; **विवरीदो**—विपरीत (अपात्र) (हैं)।

विशेष पात्र

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि, धर्म-ध्यान में लीन रहने वाले, परिग्रह से रहित और मिथ्या, माया, तथा निदान से रहित विशेष पात्र कहे गए हैं। किन्तु जो गुणों से हीन हैं, वे तो अपात्र ही हैं।

सम्माइगुणविसेसं पत्तविसेसं जिणेहिं णिद्दिट्ठं ।
तं जाणिऊण देइसु दाणं जो सोउ मोक्खरओ ॥११॥

सम्यक्त्वादिगुणविशेष. पात्रविशेषो जिनैर्निर्दिष्टः ।
तं ज्ञात्वा दीयतां दान यः सोऽपि मोक्षरतः ॥११॥

शब्दार्थ

(जिस मे) **सम्माइ**—सम्यक्त्वादि; **गुणविसेसं**—गुण विशेष (है); **जिणेहिं**—जिनेन्द्रदेव के द्वारा (वह) **पत्तविसेसं**—पात्र विशेष; **णिद्दिट्ठं**—कहा गया (है); **जो**—जो (व्यक्ति); **तं**—उसे; **जाणिऊण**—जानकर; **दाणं**—दान; **देइसु**—दिया जाता (देता है), **सोउ**—वह भी, **मोक्खरओ**—मोक्ष में रत (होता है)।

तथा

भावार्थ—जो सम्यक्त्व आदि गुणों से युक्त है, वे विशेष पात्र हैं, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। जो इन विशेष पात्रों को दान देता है, वह भी मोक्ष मार्ग में अनुरक्त है।

जं जं अक्खाणसुहं तं तं तिव्वं करेइ बहु दुक्खं ।
अप्पाणमिदि ण चिंतइ सो चेव हवेइ बहिरप्पा ।।१२।।

यद्यदक्षाणां सुखं तत्तत्तीव्रं करोति बहुदुःखं ।
आत्मानमिति न चिन्तयति स एव भवति बहिरात्मा ।।१२।।

शब्दार्थ

जं जं—जो जो; **अक्खाणसुहं**—इन्द्रियो के सुख (है), **तं तं**—वे वे; **बहु तिव्वं**—अत्यन्त तीव्र; **दुक्खं**—दुःख को, **करेइ**—करते (हैं), (अतः इन्हें त्याग कर जो); **अप्पाणमिदि**—आत्मा (का) इस प्रकार; **ण**—नही; **चिंतइ**—चिन्तन करते (हैं); **सो**—वह; **चेव**—ही; **बहिरप्पा**—बहिरात्मा; **हवेइ**—होता (है)।

इन्द्रियजन्य व भौतिक सुख नहीं हैं

भावार्थ—इन्द्रियों से मिलने वाले जो सुख हैं, वे अत्यन्त तीव्र दुःख को देने वाले हैं । इसलिए जो इन्हें त्याग कर अपनी आत्मा का चिन्तन नही करते हैं, वे बहिरात्मा होते हैं ।
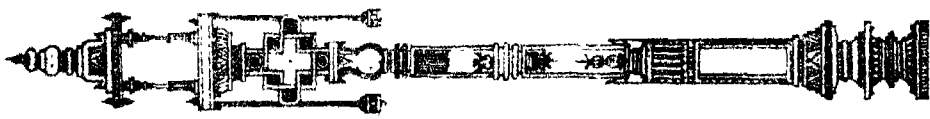
हिन्दी-रयणसार

दोहा

वर्द्धमान परमात्मा जिनवर नमहुं त्रिशुद्ध।
रयणसार भाषा कहों गृहि-जतिधर्म प्रबुद्ध ।१।

पूरब जिण जिम भाषियो तिम गणधर बिस्तार।
जो अनुपूरब सूरि-कथ सो समदिष्टी सार ।२।

मतिश्रुतिज्ञान जु बल सुछंद भाषै जिन उपदिष्ट।
जो सो होइ कुदिष्ट नर नहिं जिनमारग इष्ट ।३।

समकित रतन सुसारमय कह्यो मोक्षतरु मूल।
सो निहचे स्वसरूप तें व्यवहार सु अनुकूल ।४।

सात बिसन भयमल रहित बिरत भोग भवदेह।
वसुगुण पूरग पंचगुरु भक्त सुदरसन एह ।५।

निज शुद्धापण अनुरकत बहिर अवस्थ न कोइ।
बुध मानत जिन मुनिधरम समदिठि निरदुख होइ ।६।

मयमदमूढ अनायतन संकादिक अतिचार।
विसन जासु क्षय चालचतु सो समदिष्टी सार ।७।

देवगुरु श्रुतभक्त जे भवतन-भोगबिरत्त।
जे रतनत्रय संजुगत ते जन शिवसुखपत्त ।८।

पुज्जसीलउपवासव्रत बहुधा अथ मुनिरूप।
समकित संजुत मोक्ख सुख बिन समकित भवकूप। ९।

श्रावकधर्म सुश्रावगहं दानपुज्ज मुखि जानि।
ध्यानाध्ययन जती सुमुखि तिन बिनहूं न मानि ।१०।

दान न धर्म न भोगगुण जो पतंग बहिरात।
लोभकषायहु तास मुखि परै मरै बिख्यात ।११।

पूज करै जिन दान मुनि देय सकति अनुसार।
समदिष्टि श्रावकधरम सो उतरै भवपार ।१२।

मन सुध पूजं तास फल त्रिजग-ईस करि पुज्य।
दान फलै त्रयलोक मधि नियतसार सुख भुज्य ।१३।

दीने भोजन मात्र धन होत जु धन सागार।
पात्र-अपात्र विशेष सतकरसन कौन विचार ।१४।

दीनैं दान सुपात्र हुइ भोगभूमि सुरभोग।
अनुक्रम तैं निरवाण सुख यह जिनकथन-नियोग।१५।

इह निज बित्त सुबीज जो वपै जिनुक्त सतखेत।
सो त्रिभुवन को राजफल भोग तीर्थंकर हेत।१६।

ज्यों सुखेत सुभकाल जो वपै बीज फलपूर।
तैसें पात्र विशेष फल जानि सुदान अंकूर।१७।

मात पिता सुत मित्र तिय धन पट वाहन मेव।
विभवसार संसार सुख जानि पात्रदत हेव।१८।

सप्त राज-अंग निद्धि नव कोष अंग घट सेनु।
रतन बुसत तिय छिनवसहस जानि पात्रदानेनु।१९।

सुकुल रूप लच्छन सुमति सिच्छा सुगुण सुसील।
सुभ चरित्र सब अक्ष-सुख विभव पात्रदत लील।२०।

जो मुनि भोज विसेस भुक् भास्यो जिनवरदेव।
भोगि सार संसार सुख अनुक्रम सिवसुख हेव।२१।

सीत-उसन अथवा विपुल सिलेष्म परिश्रम व्याधि।
कायकिलेस उपवास जुत जिनहिं दान आराधि।२२।

हित मित भोजन पान भखि रहन निरावल थान।
सज्या आसन उपकरन जो दे शिवसुख मान।२३।

अनगारह वैयावरत करै जथा जो नित्त।
मात-पिता जैसे गरभ पाल निरालस चित्त।२४।

सतपुरुषन के दान की सुरतरु सुफल सुशोभ।
लोभी जन को दान ज्यों शव-विमान सम शोभ।२५।

जस-कीरति शुभ लाभ को जह तह बहुतक देहि।
भाजन सुगुण सुपात्र को नहिं विशेष जानेहि।२६।

जंत्र-मंत्र-तंत्रह प्रवृत्ति पक्षपात प्रिय बैन।
पढुव काल पंचम भरत दान मोक्ष कछु है न।२७।

दानी के दारिद्र किम लोभी मह ईसत्व।
दुहुं न पूर्वकृत कर्मफल होत बिपाक महत्व।२८।

धन-धानादि समृद्धि सुख ज्यों सब जीवन होय।
त्यों मुनिदानहि ते सकल सुख तिहिं बिन दुख लोय।२९।

पात्र बिना दत्त सुपुत्र बिन बहुधन अर यह खेत।
चित्त बिना व्रत गुण चरित जानि अकारथ एत।३०।

अरिल्ल

जिन-उद्धार प्रतिष्ठ पूज जिन की करै,
वंदन तीर्थ विशेष जास धन को हरै।
भुंजै भोग अग्यान काज धर्म नहिं करै,
कहै जिनेश सो पुरुष नरक के दुख भरै।३१।

दोहा

पुत्र कलत्र बिना दलिद पंगु मूक बहिरांध।
चांडालादि कुजाति हुइ मह दत धनहर मुंध।३२।

गतकर-पद-नासा-कणव जो अंगुलि दिठिहीन।
तीव्र दुख को मूल हुइ पूज दान धन लीन।३३।

सोरठा

कुष्ट सिरह क्षय मूल लूत जलोदर भगदरज।
बात पित्त कफ सूल पूज दान अतरायफल।३४।

दोहा

समकित सुद्ध तप चरित सतज्ञान दान परिहीन।
भरत काल पंचम मनुष निहचय उपज न कीन।३५।
नहिं दान नहिं पूज नहिं सीलगुण न चारित्र।
भणियंति नारकि कुमनु तिरजंच होत पवित्र।३६।
काज अकाज न जानहीं श्रेय अपर पुन्य-पाप।
तत्त्व-अतत्त्व अधर्म-धर्म सो समकित बिन आप।३७।
जोग अजोग रु निति अनिति सति असति न जानि।
हेय अहेय न भवि अभवि सो समकित बिन मानि।३८।
लौकिक जन संघात मति मुखर कुटिल दुरभाव।
होय संग तातें तजो मन वच तन जिय जाव।३९।
उग्र तीव्र दुरभाव दुठ दुश्रुत दुर-आलाप।
दुरमतरत अरु विरुध जिय सो बिन समकित आप।४०।
क्षुद्र रुद्र रोषी पिशुन सूगी गरव अनिष्ट।
गायण जाचण दोसकथ भंडन समकित नष्ट।४१।

बानर गर्दभ महिष गज करहा बाघ बराह।
पक्षि जलूक सुभाव नर जिनवर धरम न ताह।४२।
समकित बिन सतज्ञान सतचारित नियत न जोइ।
रतनत्रय मय सम्यकगुण जिन कहि उत्तम होइ।४३।
तनकुष्टी कुलभंग जो करै तथा ज्यों जानि।
त्यों दानादिक सुगुण बहु करै मिथ्याती हानि।४४।
देवधरम गुरु गुण चरित शुभ तप शिवगति भेव।
जिनवर वचन सुदिष्टि बिन अंध न सम्यक वेव।४५।
खिन न चितवइ शिव निमित निज आतम सदभाव।
अहनिशि चिंता पाप बहु मन चिंतइ आलाव।४६।
मिथ्यामति मदमोह तैं मत्त बकत जिम भुल्ल।
तैसे जानत नांहि निज सब स्वभावहि भुल्ल।४७।
पूरब थित खेपै करम नव नहिं देत प्रवेश।
वेड महातम लोकद्वय उपसमभाव नरेश।४८।
आज भरत अवसर्पिणी प्रचुरार्त अतिरुद्र।
नष्ट दुष्ट पापिष्ठ कठ त्रयलेश्या जुत क्षुद्र।४९।
अवसर्पिणी दु:खम भरत सुलभ पूर्व मिथ्यात।
समकित पूरब जति गृही दुर्लभ होति बिख्यात।५०।
धर्मध्यान अवसर्पिणी आलस रहित सदीव।
जिनोपदेश नहिं मानते वे मिथ्यादिठि जीव।५१।*

---

* मूल हिन्दी पद्यानुवाद में नहीं है।

अशुभ भाव ते नरकगति शुभें सुरग-सुख आव।
दुख-सुख भावहुं जाणि तुव रुचें मुकरि अनुराव।५२।

हिंसादिक क्रोधादि अरु मृषा ज्ञान पक्षपात।
अभिनिवेश दुर्मद मच्छर अशुभ लेसि विख्यात।५३।

अस्तिकाय पण द्रव्य षट् तत्त्व सात नव भाव।
बंध मोक्ष कारण सरूप द्वादश भावन ध्याव।५४।

रत्नत्रयहि स्वरूप अरु आरिज क्ष्यादिधर्म।
एते मारग वर्तई सो शुभ भाव सुशर्म।५५।

द्रव्यलिंग धरि परिहरयो बाहिज इंद्रिय सुख।
क्रिया-कर्म करि मरि जनमि बहिरातम सहि दुख।५६।

मोक्ष निमित्त दुख वहे तन दंडी दिठि परलोक।
मिथ्याभाव न छीजई किम पावइ शिव-लोक।५७।

नहिं दंडै क्रोधादि तन दंड खिपै किम कर्म।
जैसे नाग कहा मुवे लोक बांबि हन मर्म।५८।

उपशम तप भावहुं जुगत तावत संजम ज्ञान।
ज्ञानी भयो कषाय वश ताव असंजम थान।५९।

ज्ञानी खेपै ज्ञानबल कर्मन इतर अज्ञानि।
पीजे भेषज जानि यह व्याधिनाश इत मानि।६०।

मिथ्यामल शोधन प्रथम समकित भेषज सेव।
पीछे सेवइ कर्म-रुज नासन चारित भेव।६१।

अज्ञानी विषयविरत अरु कषाय बिन होइ।
तातें ज्ञानी विषयजुत जिन कहि लख गुण सोइ।६२।

विनय भक्ति बिन रुदन त्रिय बिना नेह ज्यों कोइ।
त्यो गृहत्याग विराग बिन दुठचरित्र यह होइ।६३।

सुभट सत्त्व बिन कामिनी बिन सुहाग सोभंत।
संयम ज्ञान विराग बिन ज्यों मुनि कछु न लहंत।६४।

वस्तुपूर लोभी मुगध जो पीछे फल लेत।
जो अज्ञान विषया रहित लाभइ जानहु एत।६५।

वस्तु सहित ज्ञानी सुपत-दान यथा फल लेत।
ज्ञान सहित विषया रहित लाभहि जानहु एत।६६।

भू-स्वर्ण तिय लोभ अहि विषहारण किम होइ।
सम्यकज्ञान विराग सह मंत्र जिनोक्त सोइ।६७।

प्रथम पंचेंद्रिय मन वचन काय हस्त पद मुंडि।
पीछे सिर मुंडन करहु तिम सिव होइ अखंडि।६८।

वाम भृत्य पति-भक्ति बिन जिन श्रुतभक्ति न जैन।
गुरु भक्ति बिन शिष्य लग जिय दुर्गति गत ऐन।६९।

गुरु भक्ति बिना शिष्य करन सर्व संग विरतानि।
ऊसर धरि वय बीज सम चेष्टा सर्व सुजानि।७०।

बिन प्रधान राजा नगर देश राष्ट्र बलहीन।
गुरु भक्ति बिन शिष्य तसु चेष्टा सब हुई छीन।७१।

विनय भक्ति सनमान रुचि बिन व्रत दया बिन धर्म।
तप गुन गुरु की भक्ति बिन निष्फल चारित कर्म।७२।

हीन दान विचार बिन बाहिज इंद्रिय सुख।
कहा तजै अरु भजै कहा जो नहिं शिव सन्मुख।७३।

दुद्धर तप उपवास सब कायकिलेसहिं जानि।
जो रुचि निज शुध आतमा सर्व कर्म क्षय मानि।७४।

कर्म न क्षये न ब्रह्म पर जो चित सम्यक मुक्त।
लिंग धरन वस्तर त्यजन सो जिय खेद अजुक्त।७५।

नहिं आतम देखइ सुणइ नहिं सरधइ भावइ।
बहुत दुःख भर मूल धरि लिंग कहा करेइ।७६।

जाब न जाणइ आतमा सब दुख दाता भाव।
तातें ब्रह्म अनन्त सुख मय ध्यावे मुनिराव।७७।

निज आतम उपलब्धि बिन समकित लहै न कोइ।
समकित की प्रापति बिना निहचै मोक्ष न होइ।७८।

साल राज बिन दान दय धर्म रहित गृह देखि।
ज्ञान हीन तप जीव बिन देह-शोभ ज्यों पेखि।७९।

ज्यों माखी सिलि पडि मुई परिगह पडिउ अगाध।
लोभी मूढ अज्ञान ज्यों कायकलेसी साध।८०।

ज्ञानाभ्यास बिना स्व-पर तत्त्व न कछु जाणंत।
ध्यान न होय न कर्मक्षय मोक्ष न ह्वै तावंत।८१।

इक अध्ययन ही दान है निग्रह अक्ष-कषाय।
काल पंचमें प्रवचन-सार अभ्यास कराय।८२।

पापारंभ निवृत्ति हुई प्रवृत्ति पुण्य आरंभ।
धर्मध्यान कह्यौ ज्ञान कुं जिन सब जीवन थंभ।८३।

जो श्रुतज्ञान अभ्यास कर समकित नाहिं विचार।
करत ज्ञान बिन मूढ तप सो सुखरत संसार।८४।

तत्त्वविचारक मोक्षपथ आराधकी स्वभाव।
होइ प्रसंगी धर्म तिहिं निर-अंतर मुनिराव।८५।

विकथा बिन आधाकरम बिन ज्ञानी मुनि सोइ।
धरम देसना-निपुन अनुप्रेक्षा भावना होइ।८६।

निंदा वंचन बिना सहत दुख उपसर्ग परीस।
अध्ययन-ध्यान सुरत्त शुभ बिन परिग्रह मुनीस।८७।

अविकल्पी निरदुंद निरमोह नियत निकलंक।
निर्मल युक्त स्वभाव मुनि सो योगी सुनि संक।८८।

कायकिलेस तीबर करै मिथ्याभावन जुक्त।
सर्वज्ञ को उपदेश यह सो नहिं शिवसुख-भुक्त।८९।

रागादिक मल जुक्त निज रूप तनिक नहिं दीख।
समल आरसी रूप जिम मांहि यथावत दीख।९०।

दंडसल्लत्रय मंडियो साधु सुनिंदक होइ।
भंडण जाचक सील है हिंडइ बहुभव सोइ।९१।
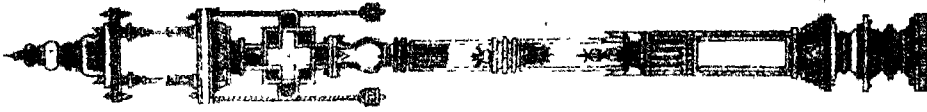
देहादिक अनुरत विषें लीनकषाय संजुक्त।
सोवत आप स्वभाव में सो मुनि समकित-मुक्त।९२।

है आरंभ धन-धान उपकरण इंछ अरु जाच।
व्रत गुण शील बिना कलहप्रिय कषाय बहुवाच।९३।

मूढ कुसील बिरोध संघ गुरुकुल रहै सुछंद।
राजसेव कर जिनधरम है विरोध मुनिमंद।९४।

ज्योतिषविद्यामन्त्र उपजीवन व्यवहार वाद।
धन-धानादिक प्रतिग्रहण मुनिदूषण परमाद।९५।

जुत कषायरत पापरंभ जे परिग्रह-भरतार।
प्रवर लोक-व्यवहार ते साधु न समकित धार।९६।

इतर दर्प नहिं सहि सकत अपनो आप महित्त।
जीम निमित्त कारिज करै ते मुनि बिन समकित्त।९७।

जथा लाभ लहि भुंजिए संजम ज्ञान निमित्त।
ध्यान-अध्ययन कारनें ते मुनि शिवमगरत्त।९८।

उदर-अगनि उपशम समन भ्रामरगोचर पूरि।
जिहिं प्रकार हित जानि निज तिम भुंजइ नितसूरि।९९।

रसलक्मज्जा-अस्थिपल-पूय-किरमि मल-मुत्त।
बहु दुरगंध चरम मय अशुचि अनित अचेतन जुत्त।१००।

दुखभाजन कारण करम भिन्न आतमा देह।
तथा धरम अनुठान विधि पोसे मुनि नहिं देह।१०१।

संजम तप ध्यानाध्ययन पडिगह गहै विज्ञान।
एते संग्रह साधु के वंचि सकै दुख तान।१०२।

क्रोध कलह करि जांचि के संकलेश परिणाम।
रुद्र रोष करि भुंजिए नहिं साधु अभिराम।१०३।

डिव्वुतिरन सम जानि यह शुद्ध है धारि अहार।
तपत पिंड सम लोह तुझ मुनि कर कँवलहि धार।१०४।

अविरत देश महाविरत श्रुतरुचि-तत्त्वविचार।
पात्रनु अंतर सहसगुण कहि जिनपति निरधार।१०५।

उपशम ध्यानाध्ययन गुण महा अवंछक दिष्ट।
जे मुनि एते गुण सहित पात्र कहे उत्कृष्ट।१०६।

नहिं जाणइ जिन सिद्ध अरु निज स्वरूप त्रिविधेहि।
सो तप तीव्र करै तऊ भ्रमै दीर्घ भव जेहि।१०७।

सोरठा

जो निहचै व्यवहार रतनत्रय जाणइ नही।
सो तप करइ अपार मृपारूप जिनवर कह्यौ।१०८।

दोहा

तत्त्व सकल जाणें कहा कहा बहुत तप कीज।
जानहु समकित शुद्ध बिन ज्ञान-तपन भव बीज।१०९।

व्रत गुण शील परीषजय आवसि तप चारित्र।
ध्यानाध्ययन सम्यक्त्व बिन भवह बीज सर्वत्र।११०।

ख्याति पूज सत्कार लभ किम इच्छइ जोगीश।
जो इच्छइ परलोक तिंहि ते परलोक न कीश।१११।

सोरठा

कर्मविभाव विख्यात चइ भावेइ सुभाव गुण।
रुचे शुद्ध निज आतमंहि निहचै होइ निरवाण।११२।

दोहा

मूलोत्तर उत्तर उतर द्रव्यकर्म नंहि भाव।
आस्रव संवर निर्जरा बंध जानि बहु काव।११३।

विषयविरत मुंचक विषयसक्त नमुंच मुनीस।
बहिरंतर परमातमा भेद जानि बहु कीस।११४।

ब्रह्मज्ञान ध्यानाध्ययन सुख अमृत रसपान।
मुक्त अक्षि-सुख भोगवै सो बहिरातम जान।११५।

विषमोदक किंपाकफल वा इन्द्रायण मानि।
रसनासुख अरु दृष्टिप्रिय तथा अक्षिसुख जानि।११६।

तन कलत्र सुत मित्र बहु चेतन रूप बिभाव।
भावइ आतमरूप सो बहिरातमा लखाव।११७।

अक्षि-विषय सुख मूढ मति रमइ तत्त्व नंहि पाइ।
बहु दुख इह चितइ न सो बहिरातमा कहाइ।११८।

जो अमेधि मंहि उपजि कें भयो रूप तिंहि सोइ।
त्यों बाहिज बहिरातमा अक्षिविषय मय होइ।११९।

सुपने हु न भुंजइ विषय भिन्न भाव देहात।
रूप निजातम भुंज शिव-सुखरत मध्यम आत।१२०।

चिरवासित मलमूत्र-घट दुर्वासन नंहि मुंच।
तो पखालिय समकित जलें ज्ञान-अमिय करि सिंच।१२१।

समदिट्ठि ज्ञानी अक्षिसुख कैसे अनुभव होइ।
काहू विधि परिहार नंहि रुजहर भूरि हि कोइ।१२२।

बहुत कहा बहिरूप तजि सर्व भाव बहिरात।
वस्तुस्वरूपी भाव सब भजि मध्यम परमात।१२३।

चउगति भवकारण गमन परम महादुख हेत।
भावनि वस्तुस्वरूप यह सो बहिरातम चेत।१२४।

शिवगतिगमकारण जननु पुण्यप्रशस्तहं हेत।
सो दो विधि आतम वसतु भावस्वरूप समेत।१२५।

द्रव्य सुगुण परजाइ वित पर-स्व समय द्वय भेव।
आतम जान सुमोक्ख गति पथनायक हुइ एव।१२६।

बहिरंतर जिय परसमय कहे जिनेश्वरदेव।
परमातम स्वसमय यह भेद सुगुन ठानेव।१२७।

मिश्र लगे बहिरातमा अंतर तुरिय जघन्य।
मध्य सत्त उत्तम द्विदश परम सिद्ध जिन मन्य।१२८।

मूढशल्यत्रय दंडत्रय त्रयगारव त्रयदोख।
सो जोगी इन तें रहित नायकपथगति मोख।१२९।

रतनत्रय करणत्रय जोगगुप्ति त्रय शुद्धि।
सो जोगी संजुक्त शिव-गतिपथनायक बुद्धि।१३०।

बहिरभ्यंतरग्रंथ बिन शुद्ध जोग संजुक्त।
मूलुत्तरगुणपूर शिव-गतिपथनायक उक्त।१३१।

जन्म जरा व्यय दुष्ट दुख अहिविष नाश करेइ।
सो समकित शिवलाभ मुनि सुनि भावइ धारेइ ।१३२।

बहुरि कहा कहि हुइ फनिंद इंद नरिंद गणिंद।
पूज्य परम आतम के जे समकित प्रधान विंद।१३३।

अयोग्य भोजन जो तपत अग्निशिखा सम मानि।
जे भुंजइ जु दुशील रत्तपिंड असंजत जानि।१३४।

उपशम समकित को बले पेलतु है मिथ्यात।
होत प्रवर्ति कषाय अवसर्पिणि दोष विख्यात।१३५।

गुणव्रत तप प्रतिमा समिक दिन छत भखि जलगाल।
दान ज्ञान दरसन चरित गृहि त्रेपन क्रिया पाल।१३६।

ज्ञान-ध्यान सिद्धि ध्यान तें कर्म निर्जरा सर्व।
निर्जरफल तें मोक्ष है ज्ञानभ्यास तुहि कर्व ।१३७।

सोरठा

तप आचरण प्रवीन मयम सम वैराग्य पर।
श्रुतभावन मइ तीन तातें कर श्रुतभावना ।१३८।

दोहा

काल अनन्तह जीव यह मृषा पंच संसार।
हिंडे समकित ना लहे भव-भ्रामण परकार ।१३९।

सोरठा

सम्यग्दर्शन शुद्ध जीव लाभ तावत सुखी।
नहि सम्यग्दर्शन लद्ध महादुखी तावत कह्यो।१४०।

दोहा

बहुत वचन करि के कहा बिन समकित सब दुख।
जो समकित संयुक्त तो जानि यह सब सुख।१४१।

नय प्रमाण निक्षेप छंद लहि शब्दालंकार।
जानि पुरातन कर्म समकित बिन बहु संसार।१४२।

वसति पवित्र उपकरण गण गच्छ समय संघ जाति।
कुल शिष्य प्रतिशिष्य छात्र श्रुत जात सुपट पुथ भाति ।१४३।

पिछि सांथरउ त्याग सुख लोभ करइ ममकार।
तावत आरति रुद्र न मुंचइ सुख नहि अनगार।१४४।

महा अंध्यारो रवि मरुत मेघ महावन दाह।
परवत वज्र विनाशन समकित कर्म अथाह।१४५।

पोखि अंध्यारे गृह मधि दीपकला परगास।
समकित नग प्रज्वले दिखे तीनलोक जिनभास ।१४६।

प्रवचनसार अभ्यास बिनहि परमध्यान को हेत।
ध्यान करम खेपे करम खिपें मोक्ष सुख देत ।१४७।

धरम ध्यान अभ्यास करि भाव सुधि त्रिविधेन।
चेष्टा आतमध्यान परकरम खिपत है तेन ।१४८।

जिनलिंगी जोगी जुगत सम्यग्ज्ञान विराग।
परम विरागी मोक्षगति पथनायक होइ जाग ।१४९।

कामदुधातरु कल्परस सार रसायण चित।
मणि लाभे सुख मुंजए इच्छत जिमि सम दित ।१५०।

सम्यग्ज्ञान विराग तप भाव अवंछक वृत्ति।
शील स्वभाव चरित्र गुण रयणसार यह दित्ति ।१५१।

रतनत्रय ही गण जु गच्छ गमन करन शिवपंथ।
संघ समह जु गुण समय निर्मल आतम ग्रंथ ।१५२।

यहे ग्रन्थ जो नहिं दिखइ नहिं माने न सुनेइ।
चितइ भावइ पढइ नहिं होइ कुदिट्ठी सोइ ।१५३।

रयणसार यह सजनपूज ग्रंथ निरालस निति।
पढइ सुनइ जो बरनए भावइ लहइ निवृत्ति ।१५४।

कुंदकुंद मुनि मूल कवि गाथा प्राकृत कीन।
ता अनुक्रम भाषा रच्यो गुन प्रभावना लीन ।१५५।

सतरह सै अठसठि अधिक जेठ सुकुल ससिपूर।
जे पंडित चातुर निरखि दोष करें सब दूर ।१५६।

।। इति श्री रयणसार ग्रन्थ यति-श्रावकाचार सम्पूर्ण, समाप्तः ।।
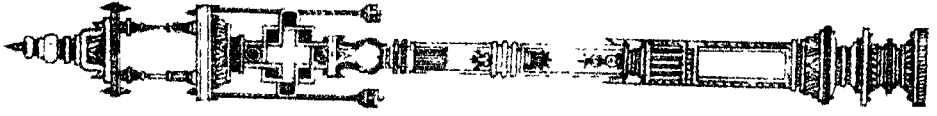
परिशिष्ट

रयणसार की मूल गाथाओं के भाव-साम्य तथा विषय के स्पष्टीकरण के लिए संकलित अवतरण :–

गा० क्र० १ :–भगवत् श्री कुन्दकुन्दाचार्य श्रावक और मुनिधर्म का कथन करने के पूर्व श्री वर्द्धमान जिनेन्द्र को नमन करते हैं, क्योंकि जिन-नमन-स्तवन मंगलरूप और कर्मक्षय मे कारण है। गाथा मे "वोच्छामि" पद जिनवाणी की प्रामाणिकता को ध्वनित करता है अर्थात् आचार्य रयण-सार के वक्तामात्र हैं, निर्माता नही हैं। जो उपदेश तीर्थंकरों, पूर्वाचार्यों से परम्परागत प्रवर्तित है, उसे ही आचार्य अपने शब्दो में कह रहे हैं।

मंगलं हि कीरदे पारद्धकज्जविग्घयरकम्मविणासणट्ठं । त च परमाग-मुवजोगादो चेव णस्सदि। ण चेदमसिद्धं; सुहसुद्धपरिणामे हि कम्मक्खया-भावे तक्खयाणुव वत्तीदो। उक्तं च–

> ओदइया बंधयरा उवसम-खय-मिस्सया य मोक्खयरा।
> भावो दु पारिणमिओ करणोमयवज्जिओ होइ ।।१।।
>
> –कषायपाहुड मंगल विचार

आरम्भ किये हुए कर्म में विघ्न न हो, इस हेतु से मंगल किया जाता है और वे कर्म परमागम के उपयोग से ही नष्ट हो जाते हैं। यह बात असिद्ध भी नहीं है; क्योंकि यदि शुभ और शुद्ध परिणामों से कर्मक्षय स्वीकार नहीं करेंगे, तो उनका क्षय अनुपपन्न हो जाएगा; क्षय होगा ही नहीं। कहा भी है–'औदयिक भावों से कर्मबन्ध होता है। औपशमिक, क्षायिक तथा उपशम-क्षयसंवलित (मिश्र) भावो से मोक्ष होता है। परन्तु पारिणामिक भावबन्ध और मोक्ष इन दोनों के कारण नहीं हैं।

> 'मंगलाति मल च गालयति यन्मुख्यं ततो मंगलं।
> देवोऽर्हन्वृष मंगलोऽभिविनुतस्तैर्मंगलैः साधुभिः।"–प्रतिष्ठातिलक १/९

गा० क्र० २ :–'तदो मूलतन्तकत्ता वड्ढमाण-भडारओ, अणुतंतकत्ता गोदमसामी, उवतंतकत्तारा भूदबलि–पुप्फयंतादयो वीयरागदोसमोहा मुणिवरा। 'किमर्थं कर्त्ता प्ररूप्यते ? शास्त्रस्य प्रामाण्यदर्शनार्थं।' वक्तृ-प्रामाण्याद् वचनप्रामाण्यमिति न्यायात् ।––षट्खण्डागम ।१।१।१

> दोण्ह वि णयाण भणियं जाणइ णवरं तु समयपडिबद्धो।
> ण दु णय पक्ख गिण्हदि किं चि वि णयपक्खपरिहीणो ।।
>
> –समयसार, १४३

गा० क्र० ५–

> 'सम्यग्दर्शनशुद्धः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः।
> पंच गुरुचरणशरणो दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः ।।'
>
> –समंतभद्र : रत्नकरण्ड ५/१३७

सप्तभय–इहलोक भय, परलोक, व्याधि, मरण, असयम (अगुप्ति), अरक्षण, आकस्मिक। —तत्त्वार्थवार्तिक ६।२४

सप्तांगराज्य–राजा, मंत्री, मित्र, कोष, देश, किला, सैन्य। (पाइयसद्द० 'सत्तग' शब्द भगवती, औप०)

'प्रपङ्कमग्ना करिणी सुदु:खिता, वियच्चरामादितपचसत्पदा।
भवान्तरे सा भवतिस्म जानकी, ततो वय पचपदेष्वधिष्ठिता ॥'

—पुण्यास्रवकथाकोष १५ (२।७१)

—कीचड़ में फँसी दुखी हथिनी विद्याधर द्वारा पचनमस्कार पद सुनाने मात्र से आगामी भव मे जानकी (सीता) उत्पन्न हुई। इसलिए हमे पच (परमेष्ठी) पद (णमोकार मत्र) मे स्थिर होना चाहिये।

सम्मादिट्ठी जीवा णिस्सका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्सका ॥ समयसार, २८३

पूयादिसु वयसहियं पुण्ण हि जिणेहि सासणे भणिय।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥ —भावपाहुड, ८३

गा. क्र. १३–

'भेको विवेक विकलोऽप्यजनिष्ट नाके,
दन्तैर्गृहीतकमलो जिनपूजनाय।
गच्छन् सभा गजहतो जिनसन्मते. स,
नित्यं ततो हि जिनपं विभुमर्चयामि ॥'

—पुण्यास्रव क. को १।३

—जिन-सन्मति महावीर वर्द्धमान की समवसरण सभा मे जिनपूजन के लिए दांतों में कमल-पुष्प लेकर जाने वाला विवेकहीन मेंढक, हाथी के पैरों तले दबकर मर गया और स्वर्ग को प्राप्त हुआ। अत. (पूजा-भाव मात्र के महान् फल को विचार कर) मैं नित्य ही जिन-पूजन को करता हूँ।

गा. क्र १८–

'मुक्ति मात्र प्रदाने तु का परीक्षा तपस्विनाम्।
ते सन्त सन्त्वसन्तो वा गृही दानेन शुद्धयति ॥'

—यशस्तिलक चम्पू, ८

"सत्पात्रेषु यथाशक्ति दान देयं गृहस्थितै।
दानहीना भवेत्तेषा निष्फलैव गृहस्थिता ॥"

—पद्मनन्दि पंच वि. ३१

'भक्त्या पूर्वमुनीनर्चेत्कुनः श्रेयोऽतिर्चिनाम् ॥'

—सागारधर्मामृत, २।६४

गा. क्र १६–

'स्यात श्रीवज्रजंघो विगलिततनुका जाता सुवनिता,
तस्य व्याघ्रो वराह कपिकुलतिलक क्रूरो हि नकुल.।
भुक्त्वा ते सारसौख्य सुरनरभवने श्रीदानफलत–
स्तस्माद्दान हि देयं विमलगुणगणैर्भव्यै सुमुनये ॥'

—पुण्यास्रव कथाकोष, ६।२।४३

—प्रसिद्ध राजा वज्रजंघ, उसकी रानी, व्याघ्र, वराह, कपिकुलतिलक-वानर और क्रूर नकुल, मुनिदान के फल से सुर-नर लोक में उत्तम सुखों को

मोगकर अन्य जन्म धारण कर मोक्षगामी हुए। अतएव निर्मल गुणों के धारक भव्य जीवों के द्वारा उत्तम मुनिपात्र मे दान देना चाहिये।

गा. क्र. १९—

नवनिधि : काल, महाकाल, पांडु, मानव, शख, पद्म, नैसर्प, पिंगल, नाना रत्न। —तिलोयपण्णत्ति, महाधिकार, ४, १३८४

चौदहरत्न : पवनजय अश्व, विजयगिरि हस्ती, भद्रमुख गृहपति, कामवृष्टि, अयोद्ध (सेनापति), सुभद्रा (पत्नी का नाम), बुद्धिसमुद्र (पुरोहित) ये ७ जीवरत्न : छत्र, तलवार, दड, चक्र, काकिणी (एक रत्न), चिंतामणि, चर्मरत्न ये ७ अजीव रत्न।

—तिलोयपण्णत्ति, ४,१३७७-७९

गा. क्र. ३२—

'तपस्विगुरुचैत्यानां पूजालोपप्रवर्तनम्।
अनाथदीन कृपण भिक्षादि प्रतिषेधनम्॥
वधबंधनिरोधैश्च नासिकाच्छेदकर्तनम्।
प्रमादाद्देवतादत्त नैवेद्यग्रहणं तथा॥
निरवद्योपकरणपरित्यागो वधोऽङ्गिनाम्।
दानभोगोपभोगादि प्रत्यूहकरण तथा॥
ज्ञानस्य प्रतिषेधश्च धर्मविघ्नकृतिस्तथा।
इत्येवमन्तरायस्य भवन्त्यास्रवहेतव.॥'

—तत्त्वार्थसार ४।५५-५८

गा. क्र. ३६—

ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न।
निष्फलं जीवित तेषां धिक् च गृहाश्रमम्॥

—पद्मनंदि ६-१५

गा. क्र. ४२—

गा क्र ४२ :—बन्दर, गर्दभ, श्वान, गज, व्याघ्र, शूकर, ऊँट, पक्षी, जोंक आदि के समान स्वभाव वाले मनुष्य धर्म को नष्ट कर देते हैं।

यथा—

'वानर पुरिसोसि तुमं निरत्थयं वहसि बाहुदंडाइं।
जो पायवस्स सिहरे न करेसि कुडि पडालि वा॥
नवि सि मम मयहरिया, नविसि मम सोहिया व णिद्धा वा।
सुघरे अच्छसु विघरा जावट्टसि लोग तत्तीसु॥'

—वर्षाकाल में शीत से कम्पायमान एक वानर को देखकर किसी चिड़िया ने कहा—पुरुष के समान हाथ पैर होकर भी तुम इस वृक्ष पर कोई कुटिया क्यों नहीं बना लेते ? यह उपदेश सुनकर उस वानर को क्रोध उत्पन्न हुआ और उसने उस चिड़िया के घोंसले को तिनका-तिनका कर हवा में उछाल दिया। फिर, बोला—हे सुघरे, अब तू भी बिना घर के रह। कहते हैं—

"सीख दीजिए वाहि को जाहि सीख सुहाय।
सीख जु दीन्हीं वानरा घर चिड़िया को जाय।"

गा क्र ४७—

'मोह महामद पियो अनादि, भूलि आपको भरमत वादि॥'

—छहढाला, ढाल १,३

गा. क ८०–

दुक्खे णज्जइ अप्पा अप्पा णाऊण भावणा दुक्ख।

–मोक्षप्राभृत, ६५

गा. क. ८२–

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाण हवेइ साहुस्स।

त अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी ॥

–मोक्षपाहुड, ७६

गा. क. ९२–

'जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।

जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे ॥मोक्षपाहुड, ३१

गा. क. ९५–

'गुरुकुल'–मूलाचार, ८, ७, प्रवचनसार, ३, २

गा. क. १०५–

'उत्तमपत्तं भणियं सम्मत्तगुणेण संजदो साहू।

सम्मादिट्ठी सावय मज्झिमपत्तो हु विण्णेओ ॥

णिद्दिट्ठो जिणसमये अविरदसम्मो जहण्णपत्तोत्ति।

सम्मत्तरयणरहिओ अपत्तमिदि संपरिक्खेज्जो ॥'

आ. कुदकुद द्वादशानुप्रेक्षा, १७-१८

गा. क १०८–

जो पुण परदव्वरओ मिच्छादिट्ठी हवेइ सो साहू।

मिच्छत्तपरिणदो उण बज्झदि दुट्ठकम्मेहिं ॥

–मोक्षपाहुड, १५

गा. क ११२–

'तत्प्रतिप्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता।

निश्चित स भवेद्भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम् ॥'

–पद्मनंदिपंचविंशति, २३

गा. क. १२५–

'जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ सासयं मोक्खं ॥' मोक्षप्राभृत, १०६

'जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ अविचल ठाण ॥' भावपाहुड, १६५

'जो भावइ सुद्धमणो सो पावइ परमणिव्वाणं ॥' द्वादशानुप्रेक्षा, ९१

गा. क. १२८–

अक्खाणि बाहिरप्पा अंतरप्पा हु अप्पसंकप्पो।

कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भण्णए देवो ॥

–मोक्षपाहुड, ५

गा. क. १३०–

जो देहे णिरवेक्खो णिद्दंदो णिम्ममो णिरारंभो ।

आदसहावे सुरओ जोई सो लहइ णिव्वाण ॥

–मोक्षपाहुड, १२

गा. क १३५–

'त्याज्य मांस च मद्य च मधूदुम्बर पंचकम्।

अष्टौ मूलगुणाः प्रोक्ता गृहिणो दृष्टिपूर्वकाः ॥

अणुव्रतानि पचैव त्रिप्रकार गुणव्रतम्।

शिक्षाव्रतानि चत्वारि द्वादशेति गृहिव्रते ॥'

–पद्मनंदि अ० ७२, श्लोक २३-२४

गा. क्र. १३८—

णाणं झाणं जोगो दंसणसुद्धीय वीरियायत्त।
सम्मत्तदंसणेण य लहंति जिणसासणे बोहिं।।

—शीलपाहुड, ३७

उग्गतवेणण्णाणी जं कम्मं खवदि भवहि बहुएहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेइ अतोमुहुत्तेण ।।

—मोक्षपाहुड, ५३

गा. क्र १३९—

णाणं णरस्स सारो सारो वि णरस्स होइ सम्मत्त।
सम्मत्ताओ चरण चरणाओ होइ णिव्वाण।।

—दंसणपाहुड, ३१

कालमणंत जीवो जम्मजरामरणपीडिओ दुक्खं।
जिणलिंगेण वि पत्तो परपरामावरहिएण।।

—भावपाहुड, ३४

गा. क्र. १४३—

'बहुयइं पढियइ मूढ पर तालू सुक्कइ जेण।
एक्कु जि अक्खर त पढहु शिवपुर गम्मइ जेण।।'

—शास्त्रों की उस अपार राशि को पढने से क्या शिवपुर मिलता है ? अरे ! तालु को सुखा देने वाले उस शुक पाठ से क्या ? एक ही अक्षर को स्व-पर भेद-विज्ञान बुद्धि से पढ, जिससे मोक्ष प्राप्ति सुलभ हो।

ण वि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासण जइ वि होइ तित्थयरो।
णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे।।

—सूत्रपाहुड, २३

गा क्र १५०—

ज णिम्मल सुधम्मं सम्मत्तं संजमं तवं णाणं।
त तित्थ जिणमग्गे हवेइ जदि संतिभावेण।।

—बोधपाहुड, २७

गा. क्र. १५३—

जो रयणत्तयजुत्तो कुणइ तवं संजदो ससत्तीए।
सो पावइ परमपयं झायंतो अप्पयं सुद्धं।।

—मोक्षपाहुड, ४३

'शकाकांक्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवा : सम्यग्दृष्टेरतीचारा.।'

—तत्त्वार्थसूत्र, ७।२३

पुरुषार्थसिद्धयुपाय, १८२

तत्त्वार्थसार ४,८४

रत्नकरण्डश्रावकाचार ४,७९

गा क्र. ११३—

'रत्तो बंधदि कम्म मुंचदि जीवो विराग संपत्तो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज।।'

—समयसार : कुन्दकुन्द, १५०

गा. क्र ६९–

पंच वि इंदिय मुंडा वचमुंडा हत्थपाय मण मुण्डा।
तणु मुडेण वि महिया दस मुडा वण्णिया समये ।।

–कुन्दकुन्द . मूलाचार ३,९

गा. क्र. ३६–

'ये यजन्ते श्रुत भक्त्या ते यजन्तेऽञ्जसा जिनम् ।
न किंचिदन्तर प्राहुराप्ता हि श्रुत-देवयो ।"

–आशाधर · सागार २,४४

जो भक्तिपूर्वक शास्त्रों (ज्ञान की) की नित्य पूजा (उपासना) करते हैं, वे नित्य जिन की पूजा करते है। दोनों मे कुछ भी अतर नहीं है।

गा क्र १५१–

णिग्गंथमोहमुक्का वावीसपरीसहा जियकसाया ।
पावारंभविमुक्का ते गहिया मोक्खमग्गम्मि ।।

–मोक्षपाहुड, ८०

गा क्र. ५२–

सम्मगुण मिच्छदोसो मणेण परिभाविऊण तं कुणसु ।
ज ते मणस्स रुच्चइ कि वहुणा पलविएणं तु ।।

–मोक्षपाहुड, ९६

गा क्र ७३–

धम्मो दयाविसुद्धो पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता ।

–बोधपाहुड, २४

गा क्र ७८–

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोह्णं पि ।
अण्णाणी तावदु सो कोधादिसु वट्टदे जीवो ।।

–समयसार, ६९

गा क्र ८०–

परिहरदि दयादाण सो जीवो भमदि संसारे ।

–अनुप्रेक्षा, ३०

गा क्र. ८३–

भणिय पवयणसारं पंचत्थियसंगहं सुत्तं ।

–पचास्तिकाय, १७३

गा क्र. ८८–

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं ।

–द्रव्यसंग्रह, ४६ ; द्वादशानुप्रेक्षा, ४२

गा क्र ९५–

आपिच्छ बंधुवग्गं विमोइदो गुरुकुलत्तपुत्तेहिं ।

–प्रवचनसार, ३, २

गा.क्र. १०७–

चरण-करणप्पहाणा ससमय-परसमय मुक्कवावारा ।
चरण-करणस्स सारं णिच्छयसुद्धं ण याणति ।।

–सन्मति सूत्र, ३, ६, ७

गा.क. १०८–

निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चय तस्तमेव मश्रयते ।
नाशयति करणचरणं स बहिः करणालसो बालः ।।

–पुरुषार्थसिद्धयुपाय, ५०

गा.क्र. ११०–

किं काहदि वणवासो कायकलेसो विचित्तउववासो ।
अज्झायमौणपहुदी ममदारहियस्स समणस्स ।।

–नियमसार, १२४

गा.क्र. ११९–

सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जे इंदियेहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा ।

प्रवचनसार, ७६

गा.क्र. १२५–

अंतरबाहिरजप्पे जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा ।
जप्पेसु जो ण वट्टइ सो उच्चइ अंतरगप्पा ।।

–नियमसार, १५०

गा.क्र. १२७–

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः ।
स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ।।

–पुरुषार्थसिद्धयुपाय, २११

गा क्र १३३–

देहादिसंगरहिओ माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो ।
अप्पा अप्पम्मि रओ स भावलिंगी हवे साहू ।।

–भावपाहुड, ५६

गा क्र १५०–

भावेण होइ णग्गो बाहिरलिंगेण किं च णग्गेण ।
कम्मपयडीय णियरं णासइ भावेण दव्वेण ।।

–भावपाहुड, ५४

गा क्र १३२–

रयणत्तयं पि जोइ आराहइ जो हु जिणवरमएण ।
सो झायदि अप्पाणं परिहरइ परं ण संदेहो ।।

–मोक्षपाहुड, ३६

गा.क्र. ४–

जीवादी सद्दहण सम्मत्त जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाण हवइ सम्मत्तं ।।

–दंसणपाहुड, २०

गाथानुक्रमणिका

म

र

ल

व

स